शब्दान्तर

शब्दान्तर

शब्दान्तर

[साहित्य-संस्कृति-शब्द-संदर्भ-ग्रन्थ]

निशान्तकेतु
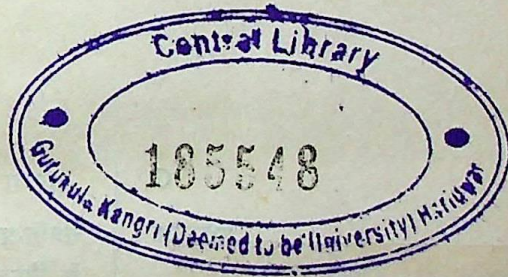
दिल्ली पुस्तक सदन
गोविन्द मित्र रोड, पटना-४
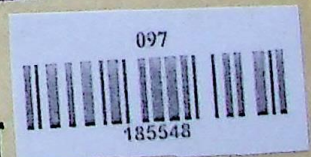
SHABDANTAR

[An Anthology of essays on Literary word-Study]

by

NISHANTKETU

1972

Price : *Rs* 15

C	सुखदा पांडेय
प्रकाशक	संप्रति-प्रकाशन, पटना-१३ की ओर से दिल्ली पुस्तक सदन, पटना-४ द्वारा प्रकाशित।
प्रकाशन-तिथि	१ मार्च १९७२ ई०।
मूल्य	पन्द्रह रुपये मात्र।
आवरण-शिल्पी	श्री श्याम शर्मा।
मुद्रक	न्यू साहनी प्रिंटिंग प्रेस, काजीपुर, पटना-४

समर्पण

मालती कानन बाला वीणा रानी
पद्मनारायण शंकर दयाल सिंह शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव
रत्ना सुचित्रा
विनय चौधरी जगदीश नारायण चौबे
विनीता पंकज
घनश्याम पंकज

वागर्थाविव सम्पृक्तौ मत्सखायौ सुदम्पती।
शब्दान्तरमिति ग्रन्थं सश्रद्धं वां समर्पये।

निशान्तकेतु

भूमिपीठ

'शब्दांतर' में तीस निबन्ध संगृहीत हैं। ये सभी निबन्ध शब्दाध्ययन-मूलक हैं। शब्द-विश्लेषक बनने की मेरी कोई योजना और इच्छा नहीं थी। हाँ, व्याकरण-शास्त्र पढ़ने और एकाधिक भाषाओं के कोश-संग्रह की प्रवृत्ति ने आत्मसुख के लिए शब्दों में सुरभित होने का संस्कार अवश्य उत्पन्न किया। शब्दाध्ययन के लिए मेरे साहित्य और सामाजिक परिवेश ने बिगत पन्द्रह-सोलह वर्षों में सौ से अधिक अवसर और मंच दिए। अतः सभा और संगोष्ठी के संयोजक, पत्रिकाओं के संपादक, ग्रन्थों के सम्पादक, मित्रों, आदरणीय विद्वानों ने ही मुझे शब्द-वक्ता बनाया है। इनका मैं सविनय कृतज्ञ हूँ। शब्दाध्ययन की इस प्रवृत्ति और प्रक्रिया के लिए मैं इन मित्रों और आदरणीय विद्वानों को ही समस्त श्रेय प्रदान करता हूँ। अन्यथा, मैं कविताएँ और कहानियाँ लिखकर ही संतुष्ट था।

लेकिन, शायद मैं शब्दों के जंगल में खो गया हूँ। इस खो जाने का भी आनन्द है, जिसे निर्भ्रांत नहीं समझ सकता। एक शब्द के सौ-सौ पर्यायवाची शब्द हैं, बीस-बीस अर्थ हैं और हजार-हजार भाषांतर-प्रतिशब्द हैं, फिर इस एक ही शब्द-संपदा की अर्थावली, पर्याय, भाषांतर, प्रयोगांतर, अर्थांतर और कालांतर-दृष्टि-वैभिन्य—अर्थात् एक भी शब्द (सम्यक् ज्ञान-पूर्वक) अपने कालांतर-दिगंतर-धर्मिता तथा शब्दांतर-अर्थांतर-संपदा के साथ समस्त विश्व को एक-सूत्रित कर सकता है। किसी एक शब्द के उपस्थित होने पर उसके पर्याय, अर्थांतर, भाषांतर और दिक्कालांतर-प्रयोग इत्यादि विशाल सेना की तरह आ खड़े होते हैं। इनमें किसी एक शब्द को एक अर्थ में, एक प्रयोग के साथ स्थिर करने का कर्म वस्तुतः बहुत वक्र और कृच्छ्र है। यहाँ रचनाकार अपने संस्कारों से प्रभावित होकर यह चयन-कर्म करता है। रचना-प्रक्रिया का प्रथम चरण यही 'शब्दानुबन्ध' है।

किन्तु 'अर्थ' के इस युग में 'शब्द' की चर्चा से कितना अनर्थ और व्यर्थ बना रह जाना पड़ता है, इसे कोई समव्यथ ही समझ सकता है।

साहित्य और साहित्येतर शास्त्रों में लिखित और भाषित दोनों रूपों में वाक् का महत्त्व है। साहित्य, सृष्टि और ब्रह्म—तीनों के लिए वाङ्मय शब्द का प्रयोग सिद्ध करता है कि वाक् ही नियामिका शक्ति है। [illegible] की यह परिकल्पना आज भी यथावत् है,

'अनादिनिधनं ब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।

समस्त सृष्टि वागर्थमय वाङ्मय है। शब्द शरीर और अर्थ प्राण है। शब्द आधार और अर्थ आधेय है। शब्द प्रथित पृथ्वी है, ठोस और ससीम अर्थ विस्तृत व्योम है, सूक्ष्म और असीम। शब्द दिक् और अर्थ अंबर है; इसीलिए शब्दार्थ दिगंबर है। दिगंबर अर्धनारीश्वर हैं। अर्धनारीश्वर पार्वती-परमेश्वर हैं। वागर्थाविव सम्पृक्तौ ••पार्वतीपरमेश्वरौ। शब्द साकार ब्रह्म है; अर्थ निराकार ब्रह्म। शब्द में आकृति होती है; अर्थ में लावण्य। शब्द पंडितों के लिए अभिधीयमान होता है, अर्थ योगियों के द्वारा प्रतीयमान। शब्द की प्रवृत्ति बहिर्मुख होती है; अर्थ की अंतर्मुख। शब्द मूर्त है; अर्थ अमूर्त। शब्द वर्णों से प्रकट होता है, वर्ण रंग है; अर्थात् शब्द वर्णों से वर्णन अथवा रंगों की रंगोली है; अर्थ ध्यान से प्रकट होता है, ध्यान अध्यात्मक है; अर्थात् अर्थ ध्यान से ध्वन्यमान अथवा संबोध की संप्राप्ति है। शब्द निर्वचनीय है; अर्थ अनिर्वचनीय। शब्द वीणा है, अर्थ झंकृति। शब्द काष्ठ और अर्थ अग्नि है। शब्द अलंकार है; अर्थ कांति। शब्द पुष्प है और अर्थ सुरभि। शब्द दृश्य होता है; अर्थ आस्वाद्य। शब्द प्रकृति है; अर्थ पुरुष। शब्द कर्मयोग है; अर्थ ज्ञानयोग। शब्द सवाक् होता है; अर्थ संवेद्य। शब्द सभ्यता है; अर्थ संस्कृति। शब्द कलश हैं; अर्थ कलशामृत। शब्दार्थ पदार्थ है। पदार्थ जगत् है। जगत् गमनशील है। गति ही जीवन है। शब्द और अर्थ दोनों ही दिक्कालसापेक्षता में चरैवेति-चरैवेति के गतिधर्मा हैं। सृष्टि की उत्पत्ति शब्द से हुई है, शब्द में ही सृष्टि का प्रविलयन होता है। अर्थ ईश्वर की तरह अदृश्य रूप से उपस्थित रहता है। शब्द भूगोल है; अर्थ इतिहास। सृष्टि का पदार्थ-विज्ञान वागर्थ है।

इस संग्रह में शब्दांतर तथा अर्थांतर के साथ वाक् के कुछ शब्दों की व्याख्या की गई है, किन्तु इसमें जो लिखा गया है, वही यथेति नहीं है ।

पुस्तक-प्रकाशन और विशेषतः ऐसी पुस्तक का निकल आना एक घटना ही है । इस घटना को घटित कर देने का श्रेय दिल्ली पुस्तक सदन, पटना के संचालक सरदार करम सिंह को है । मैं उनका कृतज्ञ हूँ ।

इस ग्रन्थ के अभावों में ऋद्धि का परामर्श देनेवाले विद्वानों का मैं कृतज्ञ रहूँगा ।

निशान्तकेतु

१ मार्च १९७२

२८, पाटलीपुत्र कॉलनी, पटना-१३.

अनुक्रम

—:o:—

संस्कृति

संस्कृति शब्द आज हमारे लिए संभवतः अनुसंधान का उपजीव्य होने से अधिक कुछ महत्व नहीं रखता। आज का युग संघर्ष, टूटन, विकेंद्रण, विघटन, संक्षेपण, शीघ्रता, अणुत्व, भौतिकता, विश्लेषण, विन्यास, क्षैतिजता और वैज्ञानिकता का है। इस विघटित अथवा विघटनशील परिवेश में संस्कृति की चर्चा और चिंतन असांस्कृतिक समझा जाता है। संस्कृति के समानांतर एक दूसरा सहचर शब्द है सभ्यता। सभ्यता और संस्कृति—Civilisation and Culture—का उद्धरण-उल्लेख कोई नया नहीं है। अंतर केवल यही हुआ है कि पहले संस्कृति महत्त्वपूर्ण थी, इसीलिए व्यक्ति सभ्य से अधिक संस्कृत होने में गौरव-बोध करता था—आज व्यक्ति संस्कृत से अधिक सभ्य है। सभ्यता को प्राथमिकता मिली। संस्कृति दिनातीत हो गई।

संस्कृति शब्द के अर्थानुसंधान से यह विघटन एवं अपकर्ष संभवतः स्पष्ट हो।

'संस्कृति' शब्द का निर्माण इस प्रकार है,—'सम्' उपसर्ग-पूर्वक 'कृ' धातु में 'सुट्' का आगम कर 'क्तिन्' प्रत्यय संयुक्त होने पर 'संस्कृति' शब्द बनता है। शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्य, आप्टे-संस्कृत-कोश इत्यादि संस्कृताभिधान-ग्रन्थों में 'संस्कृति' शब्द नहीं है। इन कोश-ग्रंथों में संस्कर्त्तृ, संस्कार, संस्कृत और संस्क्रिया—ये ही शब्द मिलते हैं। आधुनिक काल में मोनियर विलियम ने अपनी 'संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी' में इसका प्रथम उल्लेख किया है। यह भी (संभवतः) अँगरेजी प्रतिशब्द Culture के समावेश की दृष्टि से।

'संस्कृति' शब्द संस्करण, संस्कार, संस्कृत, संस्क्रिया इत्यादि शब्दों से पृथक् अर्थवत्ता नहीं रखता। इसमें उपर्युक्त शब्दों का अर्थ न्यूनाधिक व्याप्ति के साथ संयुक्त है। इन शब्दों में केवल प्रत्ययांतर है। मूल धातु, उपसर्ग एवं आगम एक ही हैं। संस्करण में 'ल्युट्' संस्कृत में 'क्त' संस्कार में 'घञ्' और संस्कृति में 'क्तिन्' प्रत्यय का संयोग है। 'सम्' उपसर्ग, 'सुट्' का आगम और 'कृ' धातु सर्वत्र समान है। संस्कृति शब्द का अर्थ होगा,—परिष्कार, सम्मार्जन कृत्रिम रूप से निर्माण, सुरचना, सुनिर्माण, सुसंपादन, तैयार करना, सुधारना तथा Culture, संस्कृत में 'संस्कार' शब्द महत्त्वपूर्ण रहा है। मानव-जीवन के

कृत्यों को सोलह (इससे भी अधिक) संस्कारों में विभक्त किया गया है। संस्कार का अर्थ है शिक्षा, अनुशीलन, संस्क्रिया, शुद्धीकरण, धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि। 'संस्कृति' शब्द में संस्कार के मानसिक, आत्मिक एवं वास्तिक शुद्धीकरण का अर्थ अंतर्भूत है। बाद में अँगरेजी शब्द के व्याप्तिपूर्ण शब्द 'कल्चर' (Culture) के पर्याय में संस्कृति का निर्माण और प्रयोग हुआ है। इसके पूर्व 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। 'संस्कृति' के लिए पहले रिक्थ, पुराण, उज्ज्वल ऐतिह्य, संस्कारशील ऐतिहासिकता-काव्यात्मकता इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता था। ये शब्द ज्ञान-विज्ञान की परंपरीण धारा को व्यक्त करते थे। इसके लिए आज 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग होता है। कल्चर-पर्याय में 'संस्कृति' का प्रयोग सुप्रयुक्त है, यह निर्विवाद है। स्वयं 'कल्चर' शब्द का क्रमशः अर्थ-विकास हुआ है।

अँगरेजी का 'Culture' शब्द कोशकार बेकन के द्वारा प्रथम प्रयुक्त है। अँगरेजी का Culture शब्द लैटिन Cultura शब्द से निष्पन्न है। लैटिन का मूल शब्द Cultus है, जिसका अर्थ है जोतना। Agriculture भी लैटिन शब्द है—Ager (खेत) + Cultura (जोतना) = Agricultura (लैटिन) = Agriculture (अँगरेजी) औक्सफोर्ड कोश के अनुसार १६०३ ई० में ऐग्रिकल्चर शब्द अँगरेजी में फार्मिंग के अर्थ में लैटिन से गृहीत हुआ। कल्चर का अर्थ पूजा भी था। इसका कारण Cult शब्द है, जिसका मूल अर्थ पूजा-उपासना इत्यादि था। मूलतः कल्चर का अर्थ निर्माण करना, संशोधित करना, विकसित करना, पूजा करना इत्यादि ही था। Culture का कोश-सम्मत अर्थ-विकास इत्थंविध है,—Worship, the artificial development of microscopic organisms, Improvement or refinement by education and training, the training and refinement of mind, tastes and manners, the intelletual side of civilization इत्यादि। इन अर्थों से 'संस्कृति' का अर्थ-साम्य है। अँगरेजी में 'कल्चर' को वर्त्तमान अर्थ-व्याप्ति सोलहवीं शताब्दी में मिलनी शुरू हो गई थी। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में शब्द और अंत में अर्थ की व्यापकता एवं अभिव्यक्ति आई। धीरे-धीरे culture की अर्थव्याप्ति वृहत्तर एवं विकसित होती गई। अँगरेजों के आगमन और अँगरेजी के प्रभाव की पीठिका पर भारत में 'संस्कृति' शब्द निर्मित हुआ। हिन्दी और भारतीय भाषाओं में यह निर्माण और अर्थायन उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। परिणामस्वरूप 'संस्कृति' का कल्चर-पर्याय में प्रचलन एवं प्रयोग हुआ।

'संस्कृति' की कोई एक व्यापक परिभाषा नहीं, जो सर्वस्वीकृत हो। मूलतः संसार की संस्कृति एक होती है। समय, स्थान, सभ्यता, धर्म, संप्रदाय, जाति इत्यादि के आधार पर संस्कृति का विभाजन किया जाता है। जैसे, प्राचीन संस्कृति, मध्यकालीन संस्कृति, आधुनिक संस्कृति, भारतीय संस्कृति, चीनी संस्कृति, युरोपीय संस्कृति, हिंदू-संस्कृति, मुसलमान-संस्कृति, ईसाई-संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति, जैन-संस्कृति, सनातन संस्कृति, द्राविड़-संस्कृति, आर्य-संस्कृति, यवन-संस्कृति, ब्राह्मण-संस्कृति, क्षत्रिय-संस्कृति, ग्रामीण संस्कृति, नागरिक संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति, भौतिक संस्कृति इत्यादि। यह वर्गीकरण वर्गीकरण-प्रतिमान-सापेक्ष है। अर्थात् 'विश्व-संस्कृति' का उल्लेख कर भी हम उसे खंडों या भागों में समझते हैं।

दार्शनिकों ने संस्कृति को दर्शन में विवेच्य माना है। किंतु उनके विवेचन में ऐकमत्य नहीं है। एक सिद्धांत के अनुसार 'संस्कृति' अधिक व्यापक है, जिसमें दर्शन अंतर्भुक्त है। दूसरे सिद्धांत के अनुसार 'दर्शन' प्राथमिक है, 'संस्कृति' विकासात्मक-परिणामात्मक। दर्शन के ही कारण 'संस्कृति' (Culture) मानववाद तथा मानवतावाद (Humanism and Humanitarianism) की पर्यायिता प्राप्त कर सकी है। दर्शन की व्याख्या धर्म, सभ्यता, साहित्य, भाषा, इत्यादि के अनुषंग में भी की जाती है और 'संस्कृति' की जीवन-सापेक्षता विविध स्तरों से सिद्ध की जाती है।

समासतः विकास-क्रम में मानव-जाति के सामूहिक प्रयत्न संस्था, धर्म, दर्शन, साहित्य, भाषा, इतिहास अर्थात् समस्त वाङ्मय में निबद्ध ज्ञान-विज्ञान, सामाजिक संस्था-प्रथादि, जो भी उल्लेख्य हैं, संस्कृति के अंग हैं।

संस्कृति से प्रायः शुक्लता, उज्ज्वलता, शुभ, शम्, कल्याण, पुण्य, सद्भाव, बंधुत्व, पुरुषार्थ-चतुष्टय-समन्वय, साहित्यिक उत्कर्ष, धार्मिक उत्कर्ष, दार्शनिक चिंतन इत्यादि विधेयात्मक, शुक्ल एवं सार्वजनीन तत्त्वों का बोध होता है। किंतु संस्कृति का उपजीव्य इनका विलोम-तत्त्व भी हो सकता है।

ब्राह्मण-संस्कृति के विरुद्ध बुद्ध ने सभी स्तरों पर विरोधी आंदोलन किया था। दोनों ध्रुवांतर धर्म या संस्कृति के रूप में स्वीकृत हैं, किंतु हमने बौद्ध धर्म को भी 'संस्कृति' में संकलित कर लिया।

अतः संस्कृति उज्ज्वलता एवं विधेयात्मकता से ही निर्मित नहीं होती। संस्कृति को निर्मित करनेवाले तत्त्वों में निषेधात्मकता भी प्रमुख है।

आज हम 'संस्कृति' का विरोध करते हैं, किंतु कुछ दिनों के बाद यह विरोध भी संस्कृति में अंतर्भावित हो जाएगा ।

अतः 'संस्कृति, अतीत की उपलब्धि होती है, जिसका वर्त्तमान में स्मरण-अनुसंधान किया जा सकता है, जिससे प्रभावित हुआ जा सकता हैं, जिसका विरोध किया जा सकता हैं । वर्तमान की उपलब्धि-प्रक्रिया अतीत की संस्कृति बन जाती हैं । यह उपलब्धि दिक्काल-सापेक्ष होती है, अतः उसकी सार्वत्रिक-सार्वकालिक स्थिति एवं अभ्यास निरर्थक है ।

उदाहरणतः, मुसलमानी-संस्कृति में शराब पीना पाप है, हिंदू-संस्कृति में गोमांस खाना पाप है, जबकि ईसाई-संस्कृति में ये दोनों व्यवहृत-स्वीकृत हैं । स्थान-परिवर्तन के साथ संस्कृति की सापेक्षताएँ बदलती जाती हैं । काल-परिवर्तन के साथ भी यही बात है । कभी ब्राह्म मुहूर्त-जागरण और सूर्य-नमस्कार हमारी सांस्कृतिक महत्ता का मूल था । आज हम दफ्तरों, कारखानों या अपने घरों में रात-रात भर काम करते हैं और सूर्योदय-दर्शन के महीनों बीत जाए तो कोई आश्चर्य नहीं ।

भारतीय संस्कृति अपनी स्थित-प्रज्ञता और अनासक्ति के लिए प्रसिद्ध थी । आज का भारतीय कर्म-चंचल और आसक्त है । अतः संस्कृति के कोई व्यापक प्रतिमान नहीं होते । और यदि किसी स्थान और काल में कुछ प्रतिमान निश्चित भी कर दिए गए तो दिक्कालातीत-रूप में वे सर्वस्वीकृत नहीं बन पाते । इसलिए 'संस्कृति' जीवन की भुक्तोज्झित प्रक्रिया होती है । वह परंपरा और ऐतिह्य होती है । व्यतीत और समीकृत होती है । संस्कृति हमारे लिए 'अन्यथा' और 'विकल्प' हो सकती है—'नान्यथा' और 'संकल्प' नहीं ।

पाश्चात्य सभ्य पहले हैं, संस्कृत बाद में । भारतीय संस्कृत पहले हैं, सभ्य बाद में । किंतु अब यह प्रक्रिया व्यतिक्रमित हो रही है ।

हमने 'संस्कृति' शब्द का आविष्कार निर्माण भी Culture के पर्याय के संधान में किया है । हम सभ्यता सीखने लग गए हैं, जबकि 'पाश्चात्य' संस्कृति । परस्पर-पूरकत्व के लिए यह व्यतिक्रम अनिवार्य है ।

अतः संस्कृति हमारे लिए रिक्थ हैं, और कुछ नहीं । न हम उसमें जीने की योग्यता रखते हैं न वह सांस्कृतिक रिक्थ हमें जिलाने की अर्हता । हमारे लिए हमारी संस्कृति निष्प्राण नहीं तो अयोग्य अवश्य हो गई है । ऐसा कहने का तात्पर्य यह कि जीवन-कला के परंपरीण उपकरण सप्राण-

निष्प्राण होते रहते हैं। अभी जीवन की पद्धति बदली है, कला की परिभाषा में परिवर्तन हुए हैं। इसलिए नूतन जीवन-कला की पद्धति-प्रक्रिया के अन्वेषण में हम अद्यावधि-उपलब्ध संस्कृति और संस्कृति-तत्त्व की परिभाषाओं को अस्वीकार कर रहे हैं। यह नवीन उज्जीवन और भिन्न जीवन-कला के आगमन की अनिवार्य प्रक्रिया है।

अँगरेजी साहित्य में भी साहित्यकारों और चिंतकों ने संस्कृति की जो परिभाषाएँ निश्चित की हैं, उनके अनुसार जीवन का जितना जो सर्वोत्तम है, संस्कृति है, ऐसा माना गया है। संसार में जितना जो सर्वोत्तम सोचा और कहा गया है, वह संस्कृति है।[1] संस्कृति अध्ययन है।[2] संस्कृति ज्योति और माधुर्य के प्रति उद्रेक है।[3] संस्कृति का जन्म जिज्ञासा से नहीं, वरन् पूर्णता की प्रेमानुभूति से हुआ है।[4] संस्कृति को दिव्यता का आधान भी माना गया है।[5] संस्कृत व्यक्ति समता के वास्तविक अग्रदूत माने गए है।[6] संस्कृत होना, सत्य और ज्ञान के प्रति निष्ठावान् होना है।[7] संस्कृति का अपना संविधान होता है, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने प्रतिभानुशासित प्राप्तव्य को उपलब्ध करने का अधिकारी है।[8] संस्कृति मस्तिष्क की शक्ति-सीमा तक उन्नति के लिये मनुष्य को अधिकारी बनाती है।[9] संस्कृति को नैतिकता-सापेक्ष मनोवेग भी माना गया है।[10] संस्कृति को राष्ट्रीयता और उसकी सीमातिक्रांति से भी संबद्ध किया गया। अर्थात् संस्कृति अंतरराष्ट्रीय तत्त्व है।[11] संस्कृति संसार के सभी आघात और आघात-दंड को मृदु बनाती है।[12] संस्कृति स्वाभिमान का सपर्याय है।[13] केवल अध्ययन से व्यक्ति संस्कृत नहीं बन सकता, जबतक अधीत ज्ञान और आचरण में समता न हो।[14] सत्य और सौंदर्य के संश्लेष की दृष्टि का एकाग्र केंद्रण ही संस्कृति है।[15] संस्कृति सर्वोत्तम के प्रति प्रसन्न होने और उसके प्रति जिज्ञासु होने का अभ्यास है।[16] सुंदर वस्तुओं में सौंदर्य का अर्थ प्राप्त करनेवाला संस्कारशील कहा जाएगा।[71] संस्कृत व्यक्ति किसी-न-किसी मौलिक दर्शन से संबद्ध होता है।[18]

काव्य की भी अपनी एक संस्कृति होती है, जिसकी अपनी सीमातीत शक्ति होती है।[19] संस्कृत व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील समझा गया है। इस बात की परीक्षा पेंटिंग की परिशंसा और प्रतिक्रिया के आधार पर की जा सकती है।[20] संस्कृति धर्म की स्थानापन्न है।[31] संस्कृत और बौद्धिक व्यक्ति में अंतर है। बौद्धिक व्यक्ति सांस्कृतिक केंद्रों और उपकरणों से सावधिक हर्षोन्मेष प्राप्त करता है, जबकि संस्कृत व्यक्ति के लिए यह

आनंद प्रातिदैनिक है।[22] संस्कृति का जीवन एक तीर्थाटन ही है।[23] समाज या सांस्कृतिक चेतना की उपमा प्रज्ञावान् प्रेमी से भी की गई है।[24] व्यक्ति और समूह की संस्कृति में अन्योन्याश्रय संबंध है। दोनों धरातलों की संस्कृतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं।[25] यह संस्कृति ही है, जो जीवन को जीने योग्य बनाती है।[26] परिवार संस्कृति की प्राथमिक संसरण-सरणी है।[27]

मंफर ने विश्व-संस्कृति (World-culture) की कल्पना की है और उसकी आवश्यक अभिसंधियों पर भी चिंतन किया है। उनके अनुसार एक 'विश्व-संस्कृति' विश्वजनीनता का निर्माण है।[28] वैयक्तिक सांस्कृतिक विकास के द्वारा ही विश्व-संस्कृति का विकास संभव है, जिससे आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होगी और जो शक्ति मानव-जीवन में अनेक सशक्त संभावनाओं को जन्म देगी।[29]

इस प्रकार पाश्चात्य चिंता-धारा में भी 'संस्कृति' (Culture) की महत्ता सर्वस्वीकृत है।

संस्कृति उपलब्धि है, सभ्यता प्रक्रिया। इसलिए संस्कृति के साथ सभ्यता का भी विश्लेषण-विवेचन साथ-साथ हुआ है। तुलनात्मक दृष्टि से संस्कृति एक होती है, सभ्यताएँ अनेक। संस्कृति सार्वकालिक-सार्वस्थानिक होती है, सभ्यता कालिक-स्थानिक। सभ्यता को 'महारोग' भी मान लिया गया है, संस्कृति सदैव स्वास्थ्य के साथ संबद्ध रही है। 'संस्कृति को सभ्यता ही संरक्षित करती है।[30] सभ्यता जातीय आत्मा की परंपरा के रूप में भी स्वीकृत है।[31] Edward carpenter ने अपनी पुस्तक ('Civilization, its cause and cure') में तथा स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक 'The Decline of the West में सभ्यता को 'महारोग' तथा पतनशील प्रमाणित किया है। अन्य अनेक स्थलों पर भी सभ्यता की भर्त्सना की गई है। संस्कृति के साथ यह बात नहीं है। संस्कृति रिक्थ-रूप में स्वीकृत होने के कारण उपर्युक्त आलोचनाओं से मुक्त है। यद्यपि यह भी सत्य है कि हम एक सभ्यता को अस्वीकार कर ही दूसरी सभ्यता का निर्माण करते हैं, इसी प्रकार एक संस्कृति की वर्तमान धारा को स्थगित कर ही दूसरी संस्कृति की धारा गतिशील कर सकते हैं। सभ्य वह है, जिसने सभा में बैठने का अनुशासन प्राप्त कर लिया है। संस्कृत वह है, जिसने विविध संस्कारों से अपने आचरण और चिंतन को संशोधित, संशुद्ध, संस्कृत तथा उत्कृष्ट कर लिया है। अतः सभानुकूल नियमानुशासन सभ्यता है, जबकि

संस्कृत चिंतनाचरण संस्कृति। सभ्यता और संस्कृति की इस मूल परिभाषा में परिवर्तन होते रहे हैं।

भारतीय संस्कृति का मूलाधार वेद है। वेद सर्वविद्यानिधान है। वेद से ही सब कुछ सिद्ध होता है। वही प्रामाण्य है,—'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।' वेद-विद्या सृष्टि की उत्पत्ति और विकास की व्याख्या करती है। वेदों के मंत्रकार-ऋचा-रचयिता ऋषि हैं। ऋषि द्रष्टा होते हैं। उन्होंने मंत्रों को देखा था—'ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः।' अथवा निरुक्तकार के अनुसार अपने भिन्न-भिन्न अभिप्रायों के अनुकूल ऋषियों को मंत्र-दर्शन होते हैं,—

"एवमुच्चावचैरभिप्रायैऋर्षीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।"

यास्क ने निरुक्त में ऋषियों के इस द्रष्टाभाव अथवा भावों के भी प्रत्यक्ष द्रष्टा या साक्षात्कर्ता के गुण का उल्लेख किया है,—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।"

ऋषियों की संवेदनशीलता तथा प्रज्ञा का विकास चरम था। उन्होंने 'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे' के सिद्धांत पर संपूर्ण ब्रह्माड का अपनी आत्मा में साक्षात्कार कर लिया था। वे (ऋषि) 'अणोरणीयान् महतोमह यान्' की अणिमा-महिमा व्यक्तित्व-विस्तृति के साधक होते थे। ब्रह्मा अपने अनादित्व-अनंतत्व के कारण ही ब्रह्माख्यापेक्षी है। वह सृष्टि कर उसमें प्रविष्ट हो जाता है। सृष्टि उसी से उद्गत मानी जाती है। किन्तु वह व्यक्त अथवा सृष्ट दिक्कालादि किसी मान से तुलिताकलित नहीं होता। वह (ब्रह्मा) 'दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्त चिन्मात्र-मूर्ति' बना रहता है। वेद का आधार आध्यात्मिक है। वेद अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण ब्राह्म सर, अव्यक्त सरोवर, वाक्-समुद्र, अपौरुषेय ज्ञान, सृष्टि-विद्या, सर्वविद्यानिधान इत्यादि कहा जाता है। अतः भारतीय संस्कृति इन्हीं वैदिक तत्त्वों से निर्मित हुई है।

इस भारतीय संस्कृति के अनुसार सृष्टि का नियंता ब्रह्म है, जिसे सच्चिदानंद कहते हैं। सच्चिादानंद तीन तत्त्वों का समस्त-पद है—

सत् (Existence), चित् (Consciousness) तथा आनन्द (Bliss)। व्यक्त सृष्टि में आनंद (Bliss) का अभाव है। मनुष्य में सत् और चित् तत्त्व हैं। शेष प्रकृति में केवल सत्तत्व है। इसीलिए प्रकृति मनुष्य की ओर उन्मुख है और मनुष्य प्रकृति के साथ परमात्म तत्त्व सच्चिदानंद की ओर अभिमुख। इसीलिए आस्तिकता की सिद्धि है।

सृष्टि की रचना पुरुष और प्रकृति के संयोग से हुई है। मनुष्य की संरचना जिस तत्त्वपंचक से हुई है, वह बृहत्तर रूप से समग्र सृष्टि में व्याप्त है।

मनुष्य के चार वर्ण माने गए हैं—ज्ञान-प्रधान, कर्म-प्रधान, इच्छा प्रधान और अव्यक्त बुद्धि-प्रधान। यही आध्यात्मिक चातुर्वर्ण्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में व्यवस्थित प्रतीकित है। मानव-जीवन में चार आश्रम हैं, जिन्हें मनुष्य ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी इन चार रूपों में यापित करता है। कर्म से वर्ण और आयु से आश्रम की प्राप्ति होती हैं,

'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः'

भारतीय संस्कृति में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) है। इन चारों पुरुषार्थों का उल्लेख अलग-अलग धर्म-शास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र में होता है। समग्र जीवन इसी पुरुषार्थचतुष्टय से उपनिबद्ध है। पुरुष के लिए जो अर्थित-कांक्षित हैं, वही पुरुषार्थ है—'पुरुषैरर्थ्यते।'

मोक्ष भारतीय संस्कृति का अंतिम प्राप्तव्य है।

भारतीय संस्कृति का सामासिक स्वरूप संक्षेप में उपरिवत् हो सकता है।

जहाँ तक 'संस्कृति' के प्रक्रियात्मक अथवा शब्दाश्रित अर्थ का प्रश्न है, यह संस्कारों के आधार पर भी संपुष्ट होता है। गौतम-सूत्र में ४८ संस्कारों का उल्लेख है—अष्टचत्वारिंशता संस्कारैः संस्कृताः।[32]

संस्कारों की संख्या निर्धारित नहीं है।

संस्कारों की संख्या गौतम के अनुसार ४८, वैखानस के अनुसार ४०, अंगिरा के अनुसार २५, व्यास के अनुसार १६ है। गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में संस्कारों की संख्या अनेकत्र भिन्न-भिन्न तथा अनेकत्र अनिर्धारित है।

संस्कारों की कोटियाँ भी की गई हैं। हारीत के अनुसार संस्कारों की दो कोटियाँ हैं,—

ब्राह्म एवं दैव।

एक दूसरे वर्गीकरण के अनुसार संस्कार की गई वस्तुओं की दो कोटियाँ हैं,—प्राकृत एवं संस्कृत। प्रकृति-प्राप्त वस्तुएँ जैसे, पर्वत, वृक्ष, नदी इत्यादि प्राकृत हैं और प्रकृति-प्राप्त वस्तुओं में संस्कार, संशोधन तथा सम्मार्जन के द्वारा अपनी उपयोगिता के अनुकूल निर्मित वस्तुएँ संस्कृत हैं। यह सम्मार्जन

अथवा संस्करण ही संस्कार है, जो तीन प्रकार का होता है— दोषमार्जन, अतिशयाधान तथा हीनांगपूर्ति ।

इस तथ्य का विवेचन इस प्रकार किया गया है,—

"प्रकृति के पैदा किए पदार्थ में यदि कोई दोष हो, तो उसे दूर करना पहला दोषमार्जन संस्कार हैं। उपयोगी बनाने के लिए उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न कर देना अतिशयाधान संस्कार है। फिर भी उपयुक्तता में कोई त्रुटि हो, तो अन्य किसी पदार्थ का मिश्रण कर उस त्रुटि की पूर्ति कर देना ही 'हीनांगपूर्ति' नाम का तीसरा संस्कार हैं। हम कह सकते हैं कि जिन-जिन पदार्थों को मनुष्य अपने उपयोग में लेता है उन्हें संस्कार करके ही लेता हैं।"[33]

वैदिक साहित्य में संस्कार शब्द नहीं है। उसमें संस्कृत शब्द का उल्लेख संस्कारशील अथवा धर्मशील के अर्थ में इस प्रकार हुआ है,—

"न संस्कृतं प्रमिमीतो गमिष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह"[34]

अर्थात्, हे अश्विनी कुमारो ! तुम हमारे इस संस्कारयुक्त यज्ञ की हिंसा न करो और यज्ञ के पास शीघ्र आकर स्तुति के पात्र बनो। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ही संस्कृतत्र[35] शब्द का भी प्रयोग हुआ है। शतपथ-ब्राह्मण में संस्कृत और संस्कार का वर्णन आया है,—

'तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्येति ।'[36]

तथा

"स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैत दाह ।"[37]

छांदोग्योपनिषद् में क्रियार्थ में संस्कार का प्रयोग इस प्रकार है,—

"तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तिनी ।
तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होता ।"[38]

जैमिनी-सूत्रों में संस्कार[39] शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। जैमिनीसूत्र (३.१.३) की व्याख्या में शबर ने संस्कार शब्द का अर्थान्वेषण इस प्रकार किया है,—

"संस्कारो नामो स भवति यस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिद र्थस्य ।"

अर्थात्, संस्कार से कोई व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है। तंत्र-वार्तिक के अनुसार संस्कार वे क्रियाएँ और रीतियाँ हैं, जो योग्यता प्रदत्त करती हैं,—

"योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते ।"

इस प्रकार वैदिक साहित्य में 'संस्कृत' तथा वैदिकेतर संस्कृत-साहित्य में 'संस्कार' शब्द मिलते हैं, किन्तु 'संस्कृति' का उल्लेख कहीं नहीं है । अँगरेजी के शब्द Culture की अर्थपद्धति पर निर्मित संस्कृति शब्द का प्रयोग अत्याधुनिक है ।

संस्कृति शब्द समग्र ज्ञानोपलब्धि की समाहृति समझी जा सकती है । कला से विज्ञान और चिंतन से आचरण तक इसका विस्तार है । इसकी कोई निश्चित और स्थिर परिभाषा नहीं की जा सकती, तथापि संस्कृति शब्द संशोधन-सम्मार्जन और संशुद्धि के सापेक्ष है । यह संशोधन-सम्मार्जनादि चिंतन, आचरण प्रक्रिया, पद्धति सर्वत्र स्वीकरणीय हैं ।

मनुष्य पहले जंगलों का निवासी था । धीरे-धीरे उसने अपनी सभ्यता निर्मित की और फिर उसके नवनीत-तत्त्व के रूप में संस्कृति की उपलब्धि हुई । किंतु, आज उन आदिम निवासियों की अवशेष जातियों को भी संस्कृत माना जाता है और उनकी संस्कृति को भी स्वीकृति मिली हैं । इसीलिए आज सर्वाधिक सभ्य और संस्कृत समझी जानेवाली जातियों के तत्त्व-चिंतक संस्कृत व्यक्ति अपनी समग्र सभ्यता और संस्कृति को अस्वीकार कर आदिम जीवन में लौटना अपनी समस्याओं से त्राण समझने लगा है । अतः केवल संस्करण ही संस्कृति नहीं है, वरन् आदिम जीवन की सभ्यातीत जीवन-पद्धति भी संस्कृति है । केवल स्वीकृति और विधेयात्मकता ही संस्कृति नहीं है । अस्वीकृति और निषेधात्मकता भी संस्कृति में अंतर्भूत उसके उपांग हैं । इसलिए संस्कृति का संप्रतिपर्यंत रूप यदि विघटित हो रहा है तो यह एक ऐसी संक्रांति-प्रक्रिया है, जिससे अधिक स्वस्थ तथा उपादेय संस्कृति का परिवेश निर्मित होगा ।

---

1. Culture is to know the best that has been said and thought in the world. – Mathew Arnold, Literature and Dogma; Preface.

2. Culture is reading.—Mathew Arnold, Literature and Dogma; Preface.

3. Culture is the passion for sweetness and light, and (what is more) the passion for making them prevail. — Mathew Arnold, Literature and Dogma, Preface.

4. Culture is then properly described not as having its origin in the love of perfection; it is a study of perfection—Mathew Arnold,Culture and Anarchy, ch. I.
5. There is no better motto which it (culture) can have than these words of Bishop Wilson, 'to make reason and the will of god prevail.'—Mathew Arnold, Culture and Anarchy, ch. I.
6. The men of culture are the true apostles of equality.—Mathew Arnold; Culture and Anarchy, ch. 1.
7. The acquiring of culture is the developing of an avid hunger for knowledge and beauty.—Jesse Lee Bennett, On Culture.
8. The great law of culture is: Let each become all that he was created capable of being—Carlyle, Essays J. P.F. Richter.
9. Culture implies all that which gives the mind possession of its own powers; as languages to the critic, telescope to the astronomer.—Emerson, Journals :1868.
10. The foundation of culture, as of character is at last the moral sentiment.—Emerson' Letters and Social Aims: Progress of culture.
11. Triumph of Culture is to overpower Nationality—Emerson, uncollected Letters:Table-Talk.
12. Culture which smooth the whole world licks, Also unto the devil sticks.—Goethe, Faust. Pt. I. Se.6, 1'60.
13. The essence of a self reliant and autonomous culture is an unshakable egoism.—H. L. Menchen, Prejudices. Sir ii. P.93.
14. No man however learned, can be called a cultured man while there remains an unbridged gap between his

reading and his life.—J. C. Powys, The Meaning of culture P. 22.

15. The purpose of culture is to inhance and intensify one's vision of that synthesis of truth and beauty which is the highest and deepest reality—J. C. Powys, The Meaning of culture. P. 164.

16. Culture is the habit of being pleased with the best and knowing why.—Henery Van Dyke. Stevenson's Book of Quotations : 9th Edition:1958 P. 348.

17. Those who find beautiful meanings in beautiful things are the cultivated.—Oscar Wilde, The Picture of Dorian Gray, Preface.

18. To be cultured person is to be a person with some kind of originl philosophy—J. C. Powys, The Meanig of of Culture. P. 2

19. The electric transformation of any real poetic culture are boundless, just because all the ages are made equal and contemporary to the sceptical mind—J. C. Powys The Meaning of Culture P. 41-42.

20. The difference between a cultured and an uncultured reaction to any picture remains, from this point of view, merely a matter of a greater or a less degree of sensitivity. उपरिवत् P. 47

21. The true nature of culture is nothing less than a substitute for religion. उपरिवत् P. 63.

22. An educated man confines his mental and aesthetic life to periodic visits to galleries, theatres, museums, librar-ies' lectures. When he goes for a day's pleasuring into the country it is as a sportsman, a golfer, a motorist.... But a cultured person's life holidays, like the lady's

love in Wilhelm Meister, are a case of never or always. उपरिवत् , P. 100.

23. The life of culture is really a pilgrimage. उपरिवत् P.103·
24. The cultured consciousness uses the universe precisely as an intelligent lover uses his dear companion. He secretly enjoys its miraculous beauty, ever while he suffers from its unpredictable way wardness. उपरिवत्: P. 120.
25. The term culture has different associations according to whether we have in mind the development of an individual, of a group or class, or of a whole society. It is a part of my thesis that the culture of the individual is dependent upon the culture of a group or class, and that the culture of the group or class is dependent upon the culture of the whole society to which that group or class belongs.—T. S. Eliot: selected prose: 1953:P. 245.
26. Culture may even be described simply as that which makes life worth living.उपरिवत् P. 250
27. The primary channel of transmission of culture is the family........उपरिवत्: P. 250.
28. In coming to One World Culture, we naturally build on these earlier efforts at universalism—Lewis Mumford, The Transformation of Man, 1957. P. 143.
29. In carrying man's self-transformation to this further stage, world culture may bring about a fresh release of spiritual energy that will unveil new potentialities, no more visible in the human self to-day than radium was in the physical world a century ago, though always present उपरिवत् :P, 192.

30 What is civilization? It is a complex of security and culture, of order and liberty....culture through facilities

for the growth and transmission of knowledge, manners and arts.—Will Durant, The pleasure of philosophy. 1952; P 262

31. Civillzations are the generation of the racial soul —उपरिवत्' P. 271.

३२. गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चार वेदव्रत, स्नान, विवाह, पंचमहायज्ञ, सप्तपाकयज्ञ, सप्तहविर्यज्ञ, सप्तसोमयज्ञ, दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकार्पण्य, अस्पृहा ।गौतमसूत्र, अध्याय ८

३३. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, म०म० श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी १९६०, पृ० २०९

३४. ऋग्वेद, ५. ७६. २

३५. ऋग्वेद, ६. २८. ४

३६. शतपथ ब्राह्मण, ३. २. १. २२

३७. उपरिवत् १. १. ४. १०.

३८. छांदोग्योपनिषद्, ४. १६. १—२

३९. जैमिनीसूत्र—३. १. ३; ३. २. १५; ३. ८. ३; ६.२. ६; ६. ३. २५; ६. ४. ३३; ६. ५. ५० इत्यादि ।

साहित्य

'साहित्य' शब्द वर्तमान अर्थव्याप्ति प्राप्त करने तक विकास की एक सुदीर्घ परंपरा रखता है। पहले 'काव्य' शब्द के अंतर्गत 'साहित्य' शब्द का व्यवहार होता था। फिर 'साहित्य' को 'काव्य' का पर्याय मानकर उसे समान महत्त्व दिया जाने लगा। अर्थ परिवर्तन की तीसरी स्थिति में 'साहित्य' के अंतर्गत 'काव्य' को समाहित कर लिया गया। साहित्य की अनेक विधाओं में एक विधा काव्य। अर्थात् 'साहित्य' शब्द 'वाङ्मय' का पर्याय प्रतिशब्द बन गया। समस्त भारतीय भाषाओं में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग होता है। बंगला और गुजराती में साहित्य का अर्थ लिटरेचर है। गुजराती में लिटरेचर के अतिरिक्त साहित्य के अन्यार्थ भी मिलते हैं—सामग्री, साधन, उपकरणों का संग्रह इत्यादि। मराठी में साहित्य का अर्थ है सामग्री, मेल, संसर्ग इत्यादि। तेलुगु में साहित्य (साहित्यमु) का अर्थ लिटरेचर के अतिरिक्त विद्वत्ता और पांडित्य भी है। कन्नड़ में साहित्य का अर्थ साहित्यिक रचना और कविता है। मलयालम में 'साहित्य' का अर्थ 'सभा' और 'छंद एवं लय में शब्द-योजना' है। तमिल में साहित्य (चाकित्तिय) का अर्थ साहित्यिक रचना, कविता एवं गेय रचना है। संस्कृत में 'साहित्य' शब्द के प्रयोग का पृथक् इतिहास है।

कुछ विदेशी भाषाओं में 'साहित्य' के प्रतिशब्द 'Literature' का स्वरूप इस प्रकार मिलता है—

Literature	[अँगरेजी]
Litte'rature	[फ्रेंच]
Literatura	[स्पैनिश]
Litteratura	[इटैलियन]
Literatur'	[जर्मन]

अँगरेजी कोश 'Literature' शब्द के अर्थविकास की व्याख्या जिस रूप में करता है, उसके अनुसार 'लिटरेचर' 'वाङ्मय' शब्द के समकक्ष उपस्थित होता है, —

1. Writing in which expression and form, in connection with edeas of permanent and universal interest, are characteristic or essential features, as poetry, romance, history, biography, essays etc.

2. The entire body of writings of a specific language, period, people etc; the literature of England: medieval literature,

3. The writings dealing with a particular Subject: the literature of ornithology,

4. the profession of a writer or author

5. Literary work or production.

6. any kind of printed material, as circulars, leaflets or handbills : we work for literature on various brands of steel shelving.

7. Archaic, polite learning : literary culture; appreeciation of letters and books.

[Late ME Litterature < < Litteratura grammer]

Literature, Belles-letters, letters refer to artistic writings worthy of being remembered. In the broadest sense Literature includes any type of writings on any Subject : the literature of medicine; usually, however, it means the body of artistic writings of a country on period which are characterised by beauty of expression and form and by university of intellectual and emotional appeal : English literature of the 16th century. Belles-Letters is a more specific term for writings a light, elegant, or excessivedy refind character : His talent is not for scholership but belles.letters. Letters (rare to-day outside of certain fixed

phrases) refers to literature as a domain of study on creation : a man of letters.

जिस प्रकार अँगरेजी का 'Literature' शब्द 'लिखित वाङ्मय' के समस्त रूपों को व्यक्त करने की अर्थशक्ति रखता है, उसी प्रकार 'साहित्य' शब्द हिन्दी में व्यापक अर्थ के साथ व्यवहृत होता है, जैसे ओषधि-साहित्य, तंत्र-साहित्य, कृषि-साहित्य, अभियंत्रण-साहित्य इत्यादि। यह भी सत्य है कि साहित्य का स्वीकृत मूलार्थ 'कलात्मक रचना' से ही है।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति के विश्लेषण से इसकी अर्थपरंपरा और अर्थसंपदा को अधिक तात्त्विकता के साथ समझा जा सकता है।

'साहित्य' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में संभवतः मतैक्य नहीं है। 'साहित्य' शब्द 'सहित' में 'ष्यञ्' प्रत्यय लगने से व्युत्पन्न हुआ है। मूल विवेच्य शब्द 'सहित' ही है।

'हित' में 'सम्' उपसर्ग लगने से 'संहित' शब्द बनता है। 'समोवा-हिततयोः' सूत्र के विकल्प का आश्रय लेकर 'संहित' के अनुस्वार को लोपकर 'सहित' बना लिया गया। अब 'सहित' में ष्यञ् प्रत्यय लगने से 'साहित्य' का निर्वचन निर्विवाद है। बिवादग्रस्त शब्द 'हित' है।

'धा' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगने से 'हित' बन सकता है। 'धा' का 'हि' आदेश हो गया है—'दधातेर्हि'। अतः धा (दधातेर्हि) + क्त = हितम्। फिर 'हि' जो स्वतंत्र धातु है, उसमें भी 'क्त' प्रत्यय लगने से 'हितम्' का बन जाना संभव और शुद्ध है। 'सह्' धातु में 'इतच्' प्रत्यय संयुक्त कर 'सहितम्' या 'सहितः' बना लेना भी संभव है। यह 'सहितः' शब्द 'समभिव्याहृतः' तथा 'संयुक्तः' दोनों का पर्याय है। सह + हित = 'सहित' शब्द-निर्माण भी संभव है।

अतः 'साहित्य' शब्द में 'सह्', 'धा', और 'हि' तीनों धातुओं को घटित किया जा सकता है। 'सहित' शब्द का निर्माण 'सह्' 'धा' या 'हि' इनमें जिस धातु से भी संभव हो, उसमें 'ष्यञ्' प्रत्यय लगता है, जिससे 'साहित्य' बनता है। 'आदिर्ञिटुडवः।' 'षः प्रत्ययस्य'—(४-५।३।१ अष्टाध्यायी) के अनुकूल 'ष्यञ्' प्रत्यय से 'ष' का लोप होने से 'यञ्' शेष रहा। फिर 'हलन्त्यम्' (३।३।१—पा०) से 'ञ्' भी लुप्त हो गया और अंततः 'ष्यञ्' प्रत्यय से 'य' शेष रहा, जो 'सहित' से संयुक्त हुआ और जिस संयोग के कारण 'सहित' के

प्रथमाक्षर 'स' की वृद्धि होने से 'सा' रूप बन गया। अतः 'सहित' + 'ष्यञ्' के संयोग से 'साहित्यम्' की निष्पत्ति प्रमाणित है। 'सम्' उपसर्ग सम्यगर्थं में प्रयुक्त है।

'साहित्य' का अर्थानुसंधान धातु-विशेष के आधार पर भिन्न-भिन्न ढंग से किया जा सकता है।

यदि 'धा' धातु से साहित्य को निष्पन्न माना जाए तो इसका अर्थ 'धा' धात्वर्थ में होगा। 'धा' धारण-पोषणयोर्दाने च। अर्थात् 'धा' धातु का प्रयोग धारण, पोषण तथा दान के अर्थ में होता हैं। 'धा' धातु का 'धारण' अर्थ अधिक व्यापक है। साहित्यकार समग्र सृष्टि धारण करता है और उसके अंतःकरण में उस समभिव्याहृत तथा स्वायत्त सृष्टि के सम्बन्ध में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, उसी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति जब सम्यक् रूपेण ('सम्' उपसर्ग) होती है तो उस भाषाभिव्यक्त तथा शिल्प-निबद्ध रूप के भाव को साहित्यकार 'स्व' से उठकर परस्व पर अपनी सत्ता का विस्तरण करता है। और यह विस्तरण अंततः समग्र सृष्टि पर हो जाता है। तभी साहित्यकार के द्रष्टृत्व की सार्थकता है। धारण की यह प्रक्रिया द्विविध होती है। एक तो साहित्यकार अपनी द्रवणशील आत्मा का वाष्पीकरण कर समग्र सृष्टि पर छा जाता है। उसकी अस्मिता नष्ट हो जाती है, उसका एकवचन-रूप समाप्त हो जाता है। उसकी यष्टिगत संकीर्ण यत्ता विघटित हो जाती है और वह सार्वत्रिक संबोध बनकर समग्र हो जाता है। ईशोपनिषद् का यह श्लोक कवि (साहित्यकार) की इस धारण-प्रक्रिया को लक्षित करता है—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः
(ईशो० ८)

वह परिभू बनकर समग्र सृष्टि के सुख-दुःख को स्वानुभूत करता है। वह वाल्मीकि तथा व्यास की भाँति देश-काल जाति को अतिक्रांत कर जाता है। धारण-प्रक्रिया की दूसरी विधि है अपनी अहंता में सृष्टि को आयत्त कर लेना। समग्र सृष्टि यष्टिमात्र में आयत्त-अध्युषित हो जाए। ईशोपनिषद् का छठा श्लोक इसी भाव को व्यक्त करता है—

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति,
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।'

लोकरुचि के अनुकूल साहित्य का निर्माण तथा आत्मदर्शन के अनुकूल लोकरुचि का निर्माण उपर्युक्त इसी धारण-प्रक्रिया से होता है। साहित्यकार में महिमा (द्राघिमा) तथा अणिमा उन्हीं दो प्रक्रियाओं या शक्ति का पर्याय है।

'धा' धातु का दूसरा अर्थ 'पोषण' भी साहित्यकार के लिए उपयुक्त है। वह चेतयिता होता है। और अपने चिंतन तथा दर्शन से मानव-जाति का आत्मिक-मानसिक पोषण करता है। मनुष्य मात्र Canal of food ही नहीं है। उसे उत्फुल्ल तथा आनंदित कर देनेवाली चिर सुन्दर, चिर नूतन वस्तु भी चाहिए। कालिदास-गेटे-शेक्सपीअर का साहित्य सौंदर्य के आमुष्मिक वर्णन से मनुष्य की सौंदर्य-पिपासा शमित करता है। यह लोकोत्तर-पोषण है। आत्मिक-बौद्धिक पोषण की इसी एषणा के कारण मनुष्य मनुष्य की आख्या धारण करने का अधिकारी है।

'धा' धातु का प्रयोग 'दान' के अर्थ में भी स्वीकृत है। साहित्यकार दाता होता है। यह लोक-विश्रुत मत है। उसका दान उत्कृष्ट तथा शाश्वत माना गया है। सभी प्रकार के दान में यह श्रेष्ठ है।

'साहित्य' में 'हि' धातु भी स्वीकृत की जा सकती है। 'हि' (धातु) गतौ—to go; to promote. के अर्थ में। साहित्य रचित होकर भी एक युग से दूसरे युग में अवतरणशील होकर गत्यात्मक है। साहित्य जीवन के स्तर को उन्नीत तथा चित्त को संशुद्ध करता है। साहित्य (काव्य) का लक्ष्य 'शिवेतर-क्षतये' तथा 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' इसी धातु के कारण संभावित है।

'सह्' धातु में 'इतच्' प्रत्यय के संयोग से भी साहित्य की उत्पत्ति ऊपर निरुक्त है। 'सह्'—तृप्तौ मर्षणे च। तुलसी के 'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति' कथन में आत्म-तृप्ति की घोषणा है। लोक-तृप्ति तथा आत्म-तृप्ति दोनों धरातलों पर साहित्य सम्यक् रूप से तुष्टिदायक है। काव्यानंद को ब्रह्मानंद-सहोदर माना गया है। यह आनंद इसी तृप्ति की अंतिम रस-निष्पन्न दशा है। 'सह्' धातु का अन्यार्थ 'मर्षण' दुःखानुभूति साहित्यकार के पक्ष में होती है। बिना दुःख तथा करुणा के साहित्य की रचना संभव नहीं, ऐसा मानते हुए भवभूति ने कहा है 'करुण एव एको रसः।' उत्तररामचरित की करुणान्विति प्रत्येक सहृदय पाठक को शिरश्चरण झंकृत तथा बहिरंतर स्पंदित कर देने की शक्ति रखती है। कबीर की विरह वेदना तथा महादेवी की दुःखानुभूति यही करुणा है। अँगरेजी में एक कहावत भी है, जिसका अर्थ है, जो आपन्न-विषण्ण नहीं है, वह साहित्य-निर्माण नहीं कर सकता। साहित्यकार स्वतः दुःख सहता है और दूसरों के दुःख में भी अपने को रखकर समभाव से समव्यथ हो जाने की संवेदनीयता रखता है। निराला का समग्र जीवन ही दुःख की गाथा है—'दुःख ही जीवन की कथा रही।' क्रौञ्च-

वध के मार्मिक दृश्य को देखकर वाल्मीकि का हृदय करुणा-विगलित हो उठा और रामायण उसी करुणा तथा दुःखानुभूति की बृहत्तर अभिव्यक्ति बनी।

'सहित' शब्द का अर्थ साथ, संयुक्त, संपृक्त या चिपका हुआ भी किया जाता है। सहितस्य भावः साहित्यम्। इस उक्ति में सहित का अर्थ यही संयुक्त या संपृक्त है। साहित्य वस्तुतः दो वस्तुओं का अन्विति-मूलक समाहार है। संज्ञापदों का क्रियापदों के साथ संयोग साहित्य है। बिना क्रिया के केवल संज्ञा से वाक्य नहीं बन सकता, जिस प्रकार बिना संज्ञा के केवल क्रिया से भी वाक्य नहीं बन सकता है। सृष्टि में भी ऐसा संयोग द्रष्टव्य है। सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से ही सृष्टि स्वीकार की गई है। पुरुष बोधशील होते हुए भी निष्क्रिय है। उसी प्रकार प्रकृति क्रियाशील होकर भी बुद्धिहीन है। सांख्य में दोनों की उपमा अंधे और लंगड़े से दी गई है। अन्धा चल सकता है, किंतु देख नहीं सकता। लंगड़ा देख सकता है, किंतु चल नहीं सकता। दोनों एकीकृत हो जाते हैं। लंगड़ा अन्धे के कंधे पर जा बैठता है और बैठा-बैठा मार्ग-निर्देश करता है, फिर गंतव्य उपलभ्य हो जाता है। सृष्टि भी इसी प्रकार पुरुष तथा प्रकृति के संयोग का प्रतिफल है। संज्ञा पुरुष या लंगड़े के सदृश्य है और क्रिया प्रकृति या अन्धे के सदृश। दोनों अलग-अलग कुछ अर्थ निष्पन्न नहीं कर पाते। दोनों 'सहित' या संयुक्त होकर ही अर्थ व्यक्त करते हैं।

'साहित्य' एक विधेयात्मक शब्द है, जिसकी व्याख्या इसके निषेध-वैपरीत्य -मूलक शब्द से हो सकती है। 'सहित' और 'रहित' दोनों विपरीतार्थक शब्द हैं। 'सहित' और 'रहित' दोनों में 'ष्यञ्' प्रत्यय संयुक्त होने पर 'साहित्यम्' (साहित्य) और राहित्यम् (राहित्य) शब्द बनते हैं। सहित के लिए 'उपेत', संयुक्त, with इत्यादि शब्द प्रायः पर्याय हैं। इसी प्रकार रहित के लिए अपेत, अयुक्त, without इत्यादि शब्द पर्याय हैं। इस पद्धति पर साहित्य के लिए उपेतत्व और संयुक्ति को कुछ सीमा तक विशिष्टार्थ की अभिव्यंजना के लिए समानार्थक माना जा सकता है, जैसे राहित्य के लिए अपेतत्व तथा अयुक्ति समानार्थक हैं। निष्कर्षतः 'साहित्य' घनात्मक संयोग है, जबकि 'राहित्य' ऋणात्मक अयोग। साहित्य आपूर्ति है, राहित्य अपूर्ति।

साहित्य शब्द तथा अर्थ का योग है। कालिदास ने रघुवंशम् का आरंभ इसी प्रतिपत्ति के साथ किया है—

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।'

रामचरित-मानस की आरंभिक पंक्तियों में भी तुलसीदास ने यह सत्य स्वीकार किया है—

'वर्णानामर्थसंधाना रसानां छन्दसामपि ।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ।'

साहित्य कला के साथ भाव का संयोग है । भाव के साथ रस का संयोग है । स्व के साथ परस्व की संपृक्ति है तथा यथार्थ के साथ कल्पना का संयोग है । साहित्य में वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत के साथ भविष्य का संबंध है अणिमा के साथ महिमा का संबंध है व्यक्ति का समाज के साथ संयोग हैं तथा दुःख के साथ सुख का संयोग है । इससे लोक के साथ परलोक एवं अंततः आत्मा के साथ परमात्मा अथवा महत्तर दिव्य-शक्ति के साथ सम्यक् संयोग है । साहित्य की यह संपृक्ति आश्लेषमूलक है जिसमें बहिरंतर आनंद-निमग्न कर देने का लक्ष्य स्पष्ट है ।

साहित्य विज्ञान से भिन्न है । विज्ञान का संबंध भौतिकता, यथार्थता तथा वस्तुनिष्ठ वर्णन से है । साहित्य में संवेदनीयता, आत्मनिवेदनशीलता तथा द्रष्टा का भाव संलग्न है । वाङ्मय का कोई भी रूप इतना पर्याप्त नहीं है । विज्ञान में मनुष्य की सुखसौविध्यमूलक वृत्ति तथा अनुसंधित्सा कार्य करती है । साहित्य में नवरसों का परिपाक होना है । रसों के ही कारण साहित्य का स्थान सर्वोपरि है । रस स्वतः प्रभु है—रसो वै सः ।

साहित्य की सीमा नहीं होती । विज्ञान स्थूलतः सीमाबद्ध है । साहित्य के द्वारा प्राप्त आनंद को किसी ताप-मापक यंत्र से मापा नहीं जा सकता । कालिदास का साहित्य पढ़कर जो आनंद उपलब्ध होता है उसकी कोई लंबाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं होगी । कवि की आत्मा सौंदर्य की लोकत्तरता से संस्पंदित है ।

भाषा मनुष्य-जाति के बहु-सहस्र-संवत्सर-प्रयत्न का परिणाम है तथा 'साहित्य' मनुष्य के समग्र वैदुष्य, संवेदन-शीलता, स्वानुभूति एवं भविष्य-चिंतन की युगांतर समष्टि का भाषा-निबद्ध रूप । अतः साहित्य पौरुषेय-प्रयत्न-शिरोमणि है । संसार की भाषाएँ २७९६ (फ्रेंच अकादमी की गणना के अनुसार) होकर भी साहित्य के स्तर पर सभी ऐकलक्ष्याक्ष हैं ।

मनुष्य-जाति की प्रज्ञा जिस विधा में उपन्यस्त-निबद्ध हुई, उसे वाङ्मय कहते हैं, मौखिक तथा लिखित । मनुष्य ने बोलना पहले सीखा था, लिखना बहुत बाद में । वाङ्मय की अर्थव्याप्ति इसी मौखिक ज्ञान से संबद्ध मानना अधिक उचित है । वेदों को सुनकर स्मरण रखने की परंपरा के कारण इनका एक पर्याय 'श्रुति' भी है । वाक् शब्द संस्कृत में स्त्रीलिंग है, जिसका अर्थ (क) वाक्य (ध्वनि-संयुक्त, जो उच्चारण से ही संभव है)— उच्यतेऽसौ अनया वेति,

वच् + ,क्विप् 'वचिप्रच्छीति' उणा.२।५७ इति क्विप् दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च—तथा (ख) 'वाणी' (सरस्वती) दोनों है। 'वाक्' का प्रयोग मनु ने एक स्थल पर इत्थंविध किया है,—

'अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्—
वाक् चैवा मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।'
(मनु २। १५६।)

यहाँ वाक् का मधुर अथवा श्लक्ष्ण होना उसके श्रौत रूप अथवा अलिखित रूप को ही निर्दिष्ट करता है। इस 'वाक्' में 'मयट्' प्रत्यय संयुक्त होने से 'वाङ्मय' शब्द व्युत्पन्न हुआ है, जिसका आजतक अर्थांतर होता आया है। वाङ्मय के प्रतिशब्द वाङ्स्वरूपम्' तथा वाक्ययात्मकम्' भी हैं।

'समस्तं वाङ्मयं व्याप्तं त्रैलोक्यमिव विष्णुना।' (छन्दोमञ्जरी)
उपर्युक्त पंक्ति से वाङ्मय का सार्वत्रिक अस्तित्व तथा उपस्थिति स्वीकृत है। शतपथ-ब्राह्मण में शब्दों (वाक्) के द्वारा ही अनुभूति, अभिव्यक्ति, संकल्प, तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने की प्रतिज्ञा स्वीकृत है—

'वाग्वै मतिः वाचा हीदं सर्वं मनुते।'

उपनिषद् में शब्द को आकाश का विवर्त्त-रूप माना गया है। 'शब्दः खे पौरुषं नृषु।' नागेश और कैयट ने जिसे स्फोट माना है वह पतंजलि के अनुसार ध्वनि है और पाणिनि ने जिसे पहले ही शब्द—अथशब्दानुशासनम्' मान लिया था। आकाश से वायु और वायु मे शब्द तथा पुनः शब्द से सृष्टि उत्पन्न हुई, ऐसा माना गया है—वायुर्खात् शब्दस्तत्। (शुक्लयजुः प्रातिशाख्य)

निरुक्त में शब्द का विशद वर्णन है। समग्र सृष्टि वाक् (शब्द) या स्फोट से उत्पन्न होती है और अंततोगत्वा शब्द में ही विलीन हो जाती है—विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते।'

शब्द को इसी कारण ब्रह्म कहते हैं। अतः वाङ्मय ब्रह्म है। ब्रह्म की पत्नी ब्राह्मी या सरस्वती का एक पर्याय वाङ्मयी (वाङ्मय + ङीप्) भी है।

'तिथ्यादितत्त्वम्' में वाङ्मय को षड्विध स्वीकार किया गया है—तथा परुषवचनमपवादः पैशुन्यमनृतं वृथालापो निष्ठुरवचनं इति वाङ्मयानि षट्।

अतः इन उदाहरणों से यह प्रतिपन्न है कि वाङ्मय मौखिक अथवा अलिखित ज्ञान को ही कहा गया है। इसका अर्थ पहले 'ब्रह्म' फिर समग्र सृष्टि में व्याप्त 'स्फोट', जिससे ब्रह्मांड बना, फिर मनुष्य के मुख से उच्चरित 'सार्थक वाक्यसमूह' फिर वेद और अंत में साहित्य इसका पर्याय हो गया।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वाङ्मय के दो खंड किए हैं—शास्त्र तथा काव्य। शास्त्र के अंतर्गत श्रुति तथा वेदांग हैं, जिन्हें अपौरुषेय स्वीकार किया गया है। आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृति, तंत्र, पुराणादि को भी शास्त्र के ही अंतर्गत कोटीकृत किया गया है, किंतु इन्हें पौरुषेय माना गया है। काव्य के अंतर्गत कविता, नाटक इत्यादि सर्जनात्मक साहित्य आता है।

आज वाङ्मय अर्थांतरतः समस्त लिपिबद्ध गद्य-पद्यादि का पर्याय है। इसे आज अर्थसंकोच के कारण साहित्य का प्रतिशब्द भी माना गया है।

वाङ्मय का पर्याय पहले काव्य ही हुआ, फिर साहित्य। अतः काव्य एवं साहित्य को बाद में परस्पर-पर्याय माना जाने लगा।

समासत; साहित्य मनुष्य-जाति के वैदुष्य, दर्शन, स्वानुभूति, चिंतन, प्रयोग तथा संवेदनशीलता का सम्यक् शिल्पसंबद्ध-भाषा-निबद्ध रूप है। प्रत्येक स्थान का एक भौगोलिक वातावरण होता है। उसी प्रकार प्रत्येक जाति तथा राष्ट्र और अंततः समग्र मानव-जाति का एक सांस्कृतिक परिवेश होता है। साहित्य इसी जितसिस्त (Zeitgeist) अथवा युगपरिवेश (Spirit of the age) के मध्य निर्मित तथा आत्मा को रसान्वित-उद्रिक्त कर देने की दिव्य शक्ति वाला शाश्वत रूप है। 'शब्द' इसकी प्राथमिक और अंतिम प्रतिपत्ति है और अर्थ मध्यांतर-तंतु।

1, The Random House Dictionary of the English Language : Editor in chief—Jess Stein. Copy right. 1967. Page 836-37.

अर्थ

शब्द की भाँति 'अर्थ' के भी अनेक अर्थ और पर्याय मिलते हैं। अर्थ के पर्याय हैं प्रयोजन, आशय, अभिप्राय, अभिधेय, विषय, शब्द-प्रतिपाद्य, लक्ष्य, उद्देश्य, अभिलाष, तात्पर्य, प्रतिपाद्य, इत्यादि।

विभिन्न भाषाओं में 'अर्थ' का प्रतिशब्द द्रष्टव्य है,—

अर्थ—संस्कृत
अर्थ—हिन्दी
माने—हिन्दी [अपभ्रंश]
मानी—उर्दू
अर्थम्—मलयालम
अर्थ – कन्नड़
पोरुळ – तमिल
अर्थमु—तेलुगु
मानी, मतलब — अरबी
Meaning—English
Sens—French
Sentido, Significado —Spanish
[2] Segnificato—Italian
Bedeu'tung—German

अर्थ की व्युत्पत्ति इस प्रकार है,—अर्थ् + घञ् = अर्थः। ऋ + थन् = अर्थः। अर्थ – (याचने)—अर्थयते। आत्मनेपदी इस धातु को चुरादिगणीय माना जाता है। यह एक द्विकर्मक धातु है।

अर्थ अनेकार्थी शब्द है। वाङ्मयार्णव में 'अर्थ' के फल, धन, शास्त्र, वस्तु-मात्र, प्रयोजन, हृदय, साधन, मोक्ष, कार्य, ऐश्वर्य, निवृत्ति, वाच्य, हेतु, अभि-प्राय, याचन और विषय—ये सोलह अर्थ किए गए हैं।[1]

शब्दरत्नाकर[2] में इन्हीं अर्थों का प्रतिपादन है। अमरकोश[3] में अर्थ के पाँच अर्थ हैं,—अभिधेय, धन, वस्तु, प्रयोजन और निवृत्ति। इन सभी अर्थों में दो अर्थ सर्वप्रमुख माने गए हैं, अर्थ (Meanig) और अर्थ (Wealth)। हितोपदेश में इस स्थापना की पुष्टि मिलती है,—

''अर्थेन बलवान् सर्वः अर्थात् भवति पण्डितः।''[4]

अर्थ का मानी (Meaning) के अभिप्राय में जो अर्थ है, उसमें भी अर्थांतर है। यह अभिधेय, अभिप्राय और प्रयोजन जैसे शब्दों से प्रकट होता है। ये तीनों शब्द अर्थ के प्रर्याय और अर्थ दोनों में प्रयुक्त होते हैं। ये तीनों शब्द यद्यपि एकार्थक और परस्पर-पर्याय हैं, किन्तु इनमें सूक्ष्म अर्थांतर भी है, जो इनके अँगरेजी प्रतिशब्दों से स्पष्ट है,—अभिधेय—Meaning, अभिप्राय—Purpose, प्रयोजन—Motive, अर्थ के नानार्थत्व में इन शब्दों का प्रयोग मिलता है,—

''अभिधेयाभिप्रायप्रयोजनद्रव्यवाचकेष्वर्थः।''[5]

---

१ ''अर्थः फले धने शास्त्रे वस्तुमात्रे प्रयोजने।
हृदये साधने मोक्षे कार्यैश्वर्यनिवृत्तिषु।
वाच्ये हेताभिप्राये याचने विषये तथा।''
वाङ्मयार्णय : महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा; ३४५-४६

२. ''अर्थो धने शब्दवाच्ये शास्त्रे हेतौ प्रयोजने।
निवृत्तौ याचने मोक्षे विषयव्यवहारयोः।''
—शब्दरत्नाकर [बाणभट्ट]—३७२६-२७

३. ''अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु।''
—अमरकोश ३।३।८६

४. हितोपदेश—८६

. अभिधान रत्नमाला (हलायुधकोश)—५।८६७

शब्द

'शब्द' के अनेक पर्याय और अर्थ मिलते हैं। इस दृष्टि से 'शब्द' पर्याय-सुलभ और नानार्थक सिद्ध होता है। संस्कृत में शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। इनमें शब्द, निनाद, निनद, ध्वनि, ध्वान, रव, स्वन, स्वान, निर्घोष, निर्ह्लाद, नाद, निस्वान, निस्वन, आरव, आराव, संराव, विराव— ये अमरकोष में उपलब्ध प्रतिशब्द हैं।[1] 'संरव' और 'राव' शब्दचन्द्रिका में उपलब्ध और 'घोष' जटाधर में उपलब्ध पर्याय हैं। 'त्रिकांडशेष' में शब्द के जो आठ पर्याय माने गए हैं, वे मूलतः ध्वनि-पर्याय भी हैं, वे हैं,—शब्द, अभिलाप, अभिधा, अभिधान, वाचक, ध्वनि, ह्रास और कुहरित।[2] अभिधानचिंतामणि में शब्द के सत्ताईस पर्याय दिए गए हैं,—शब्द, निनाद, निर्घोष, स्वान, ध्वान, स्वर, ध्वनि, निर्ह्लाद, निनद, ह्लाद, निःस्वान, निःस्वन, स्वन, रव, नाद, स्वनि, घोष, संराव, विराव, आराव, आरव, क्वणन, निक्वण, क्वाण, निक्वाण, क्वण, रण।[3] यदि 'वाणी' को 'शब्द' पर्याय में स्वीकार किया जाए तो तेरह और शब्द— ब्राह्मी, भारती, भाषा, गी (गिर्-गिरा), वाक् (वाच्), वाणी (वाणि), सरस्वती, व्याहार, उक्ति, लपित, भाषित, वचन, वच[4]—इस सूची में जुड़ जाएँगे।

कुल मिलाकर शब्द के विभिन्न कोश-ग्रंथों से उपलब्ध जो संस्कृत-पर्याय मिलते हैं, उनकी सूची के साथ भारतीय प्रतिवेशी भाषाओं एवं कुछ विदेशी भाषाओं के प्रतिशब्द की सूची इस प्रकार उपस्थित की जा सकती है—

संस्कृत भाषागत—

शब्द, निनाद, निनद, ध्वनि, ध्वान, रव, स्वन, स्वान, निर्घोष, निर्ह्लाद, नाद, निस्वान, निस्वन, आरव, आराव, संराव, विराव, संरव, राव, घोष, अभिलाप, अभिधा, अभिधान, वाचक, ह्रास, कुहरित, स्वर, ह्लाद, निःस्वान, निःस्वन, स्वनि, क्वणन, निक्वण, क्वाण, निक्वाण, क्वण, रण, ब्राह्मी, भारती, भाषा, गी, वाक्, वाणी, सरस्वती, व्याहार, उक्ति, लपित, भाषित, वचन, वच और पद। [५१ शब्द]

भारतीय प्रतिवेशी भाषागत—

शब्द – पंजाबी
लफ्ज़—उर्दू
शब्द — मराठी
शब्द—गुजराती
शब्द—बँगला
शब्द—असमी
शब्द—उड़िया

पदमु
शब्दमु } —तेलुगु
माट

शब्द
नुडि } —कन्नड़
पदम्

विदेशी भाषागत—

Word—English
Mot—French
Palabra—Spanish
Parola—Italian
Palavra—Portuguese
Cuvint—Rumanian
Wort—German
Woord—Dutch
Ord—Swedish
Ord – Danish
Ord—Norwegian
Slowo—Polish
Slovo—Czech
Szo—Hungarian
Sana—Finnish
Kelime—Turkish
Kata—Indonesian
Vorto—Esperanto

Slovo—Russian
Lexis—Greek
Milah—Hebrew
Vort—Yiddish
Kotoba—Japanese
Neno—Swahili
लफ्ज—अरबी

शब्द के अनेक पर्याय तथा भाषांतर-प्रतिशब्द का उल्लेख किया गया। शब्द के अनेकार्थित्व का भी समानांतर महत्त्व है। शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से सिद्ध है:—

(क) शब्द् (शब्दकरणे) + घञ् = शब्दः।
(ख) शप् (आक्रोशे) + दन् = शब्दः।
[शाशपिभ्यां ददनौ। पकारस्य बकारः।]

'शब्द' के अनेक अर्थ अनेक शास्त्रों में मिलते हैं। इन अर्थों में प्रमुख हैं—

ध्वनि, श्रोत्रग्राह्यगुणपदार्थ विशेष, कलरव (मनुष्य और मनुष्येतर जीवोत्पन्न), वचन, नाम, संज्ञा, प्रातिपदिक, उपाधि, विशेषण इत्यादि। वाङ्मयार्णवकार ने शब्द को अक्षर, यशोगीति, वाक्य, आकाश, श्रवण और ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[5]

'शब्द' चुरादिगण की धातु है, जिसका परस्मैपद (शब्दयति) और आत्मनेपद (शब्दयते)—दोनों में प्रयोग होता है। अतः यह उभयपदी धातु के रूप में स्वीकृत है। शब्दकल्पद्रुम ने 'शब्द' को केवल परस्मैपदी माना है। क्रिया-रूप में शब्द का अर्थ है ध्वनि करना, बोलना, बुलाना इत्यादि। जैसे,—

"विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः।
परिपतति दिवोङ्के हेलया बालसूर्यः॥"

सामान्यतः शब्द के दो भेद माने गए हैं—(१) ध्वन्यात्मक और (२) वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक का सम्बन्ध उच्चारण से और वर्णात्मक का सम्बन्ध लेखन से है।

शब्द की परिभाषा में मतैक्य नहीं है। महर्षि पतंजलि ने शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है—"जो उच्चरित ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर गलकंबल, लांगूल, ककुद, खुर, सींग वाले गो व्यक्तियों का बोध करता है, वह शब्द है।" अथवा

"लोक-व्यवहार के अंतर्गत जिस ध्वनि से अर्थ का बोध होता है, वह शब्द है।"६

---

१. "शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः।
स्वाननिर्घोषनिर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वनाः।
आरवारावसंरावविरावा।"

—अमरकोष—१।६।७

२. "शब्दाभिलापौ त्वभिधाऽभिधानं वाचको ध्वनिः।
ह्रास : कुहरितश्च।"

—त्रिकाण्डशेष—१।६।१

३. "शब्दो निनादो निर्घोषः स्वानो ध्वानः स्वरो ध्वनिः।
निर्ह्रादो निनदो ह्रादो निःस्वानो निःस्वन; स्वनः।
रवो नादः स्वनिर्घोषः संव्याङ्भ्योः राव आरवः।
क्वणनं निक्वणं क्वाणो निक्वाणश्च क्वणो रणः।"

—अभिधानचिन्तामणि [हेमचन्द्राचार्य]—६।३५-३६

४. "ब्राह्मी तु भारती भाषा, गीर्वाग्वाणी सरस्वती।
व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः।"

—अमरकोष—१।६।१

५. "शब्दोऽक्षरे यशोगीत्योर्वाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ।"

—वाङ्मयार्णव—५८४४।

६. "येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।"
प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।"

—महाभाष्य (पतंजलि)—प्रथमाह्निक

वेदनावाद

संसार और जीवन में सुख अधिक है या दुःख, इस प्रश्न पर बहुत विवाद हुआ है। सापेक्षत्व का सिद्धान्त यदि सर्वत्र निक्षेप्य-नियोज्य है, तो सुखवाद तथा दुःखवाद की निरपेक्ष सत्ता उत्पन्न नहीं होती। ऐसी दशा में दृश्य' के स्थान पर 'द्रष्टा' की महत्ता सिद्ध होती है। आत्मगतत्व या आत्मनिष्ठता (Subjectivity) की पृष्ठभूमि पर 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' सूत्र की सिद्धि होती है। साहित्य और दर्शन—दोनों स्थानों में आत्मगतत्व की प्रतिपत्ति प्रमाणित होती है। वैदिक दर्शन के मूल में यही द्रष्ट्राभाव आत्मगतत्व है, जिसकी घोषणा 'ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः' कहकर की गई। साहित्य में यह आत्मसत्य 'Subjectivity is truth' के रूप में अवतरित हुआ। तथापि इतना तो स्वीकार्य होगा ही कि आत्मनिष्ठता के दृष्टिकोण निर्धारण में वस्तुनिष्ठता की आसंगता (association) भी कारणीभूत है। अतः इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

'प्रकृति' सृष्टि की केवल सत्तात्मक विवृति है, जबकि मानव में सत्तात्मकता के साथ चिंतनशीलता की सामर्थ्य भी है, किन्तु परमात्मा (यदि उसका अस्तित्व है तो) में सत् तथा चित् इन दो तत्त्वों के साथ आनन्द भी है। इसीलिए उस काल्पनिक वास्तविकता या वास्तविक कल्पना को सच्चिदानन्द (Existence, Conscionsness & Bliss) की आख्या दी गई, जिसकी ओर आनन्दरहित मानव का अभिव्यक्ति-भिन्न आकर्षण स्वाभाविक ही माना जाएगा।

दुःख, वेदना, करुणा, शोक इत्यादि भावों के लिए साहित्य में करुण-रस का अस्तित्व है। दुःखवादी करुण-रस को ही मूलरस मानकर साहित्य का सर्जन या जीवन की व्याख्या करते हैं। इनके विपरीत सुखवादी शृंगार-रस को रसराज या मूलरस मानते हैं। यहीं निवृत्ति-मार्ग या वैराग्य और भोग को संयुक्त किया जा सकता है। भवभूति ने सबसे पहले वेदना-करुणा को प्रमुखता-

पूर्वक स्वीकार करते हुए कहा—"एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्त्तान् । आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ।" साहित्य में वेदनावाद को भवभूति ने जिस प्राधान्य के साथ स्थापित किया, उसी प्राधान्य के साथ महात्मा बुद्ध ने उसे दर्शन में स्थापित किया था । बुद्ध समग्र जीवन और जगत् को दुःखमय (सव्वं दुक्खं) मानते हैं ।

बुद्ध ने जीवन की दो ध्रुवांतर अतिशयताओं का उपभोग किया और तत्परिणामतः दोनों की निस्सारता एवं निरर्थकता का ज्ञान प्राप्त किया था । राजकुमार-जीवन में उन्होंने संसार की सभी विलासिताओं का उपभोग निमग्न-निश्चिन्त होकर किया और फिर जब उनके मन में तत्त्व-लाभ की उत्कंठा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने विलासिता-ग्रस्त सांसारिकता का त्याग कर महा-भिनिष्क्रमण किया और तपस्या में अनेक वर्षों तक शरीर को पीड़ित करते रहे । अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अतिशयताएँ (Extremes) जीवन का आदर्श नहीं हैं । अतः उन्होने 'मध्यम मार्ग' का दर्शन स्थापित किया और आमरण इसी सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार करते रहे । उन्हें 'मध्यम मार्ग' या 'मज्झिम निकाय' का यह दृष्टि-बोध तपश्चरण के क्रम में उस दूरागत गान-ध्वनि के प्रभाव-परिप्रेक्ष्य में अधिगत हुआ, जिस गान में यह उपदेश था कि वीणा के तार को इतना मत मोड़ो कि वह टूट जाय अथवा इतना ढीला मत छोड़ो कि उससे झंकृति ही न निकले ।

इस 'मध्यम मार्ग' या 'मज्झिम निकाय' या 'मध्यमा प्रतिपदा' या 'Middle Path' को बुद्ध ने चक्षुदायिनी और ज्ञानप्रदायिनी कहा है जिससे उपशम, अभिज्ञान, संबोधन और निर्वाण प्राप्त होता है । यही बुद्ध की सम्यक् संबोधि थी, जिसे अधिगत-अनुभूत कर वे गौतम से अभिसंबुद्ध होकर बुद्ध हुए । उनकी घोषणा हैं, 'सव्वं दुक्खं' की । इसी दुःख और वेदना के आधार पर उन्होंने आर्यसत्यचतुष्टय की व्याख्या-व्यवस्था की ।

पश्चिमी दर्शन में शॉपेनहावर, हार्टमन एवं आस्वाल्ड स्पेंगलर के दुःख-वाद या वेदनावाद की दृष्टि में बुद्ध के प्रभाव का अनुसंधान किया जा सकता है । 'ट्रेजेडी' पर पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक विचार किए हैं । अरस्तू के "कैथार्सिस" (मनोरेचन) के मूल में वेदना का अन्तस्पंदन सुना जा सकता है । साहित्य में व्यवहार-रूप से ग्रीक ट्रेजेडीज तथा बाद में शेक्सपीयरियन ट्रेजेडीज का महत्त्व निर्विवाद है । भारतवर्ष में आदिकवि वाल्मीकि की क्रौंच-वध-गाथा

श्लोक निबद्ध शोक ही है। हिन्दी-संस्कृत-अंगरेजी या संसार की अन्य भाषाओं में भी शोकगीति (Elegy) ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान आयत्त कर लिया है।

हिन्दी में संतकाव्य अथवा सम्पूर्ण भक्तिकाल वेदनाश्रित है। परमात्मा इष्ट है, जिससे वियोग या विप्रलंभ की स्थिति शोकान्वित और वेदना-विह्वल है। जर्मनी में रोदनवादियों (drowned in tears) के गीतों में वेदनावाद कभी-कभी व्यंग्य की स्थिति तक पहुँच चुका है। हिन्दी में प्रसाद और महादेवी के 'आँसू' और 'नीर' का प्रस्रवण प्रसिद्ध है।

यूरोप में ज्ञान से पलायन कर जिस रहस्य के आश्रय में कविता की जाने लगी थी, वहाँ भी वेदना की शाश्वत उपस्थिति में पीड़ित कवियों की कारुणिकता ही थी। 'सैडेस्ट थॉट' से अन्वित गीत को 'स्वीटेस्ट सौंग' कह दिया गया। हिन्दी का सम्पूर्ण छायावाद इसी वेदनानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है। अँगरेजी में श्मशानवाद (Graveyard school) का अस्तित्व प्रकारांतर से इसी वेदना की व्याख्या करता है।

महर्षि अरविन्द में भी यही वेदनावाद है। उस दिव्य लोक (Mother State) के नागरिक आत्म-निष्कासित रूप से अन्धकार ग्रस्त लोक में आकर रहने लग गए हैं, जहाँ जीवन में पीड़ा, दुःख, शोक, वेदना ही सहचर हैं।[1]

"Ourselves are citizens of that mother State,
Adventurers, we have colonised Matter's night.
But now our rights are barred, our passports void;
We live self exiled from our heavenlier home.
Amidst earth's mist and fog and mud and stone.
It still remembers its exalted sphere.
And the high city of its splendid birth."[1]

अरविन्द-दर्शन के मूल में वेदनावाद को प्रच्छन्न प्रेरणा अन्वेष्य है।

अस्तित्ववादी सार्त्र के दर्शन में वेदनावाद आधारभूत रूप से अनुस्यूत है। वे समग्र जीवन को वेदनाग्रस्त मानते हैं। मनुष्य का सबसे बड़ा कष्ट यह है कि उसे स्वयं 'निर्णय' लेना पड़ता है। विकल्पों के मध्य संकल्प करना ही दुःख है, जिसे वे 'ऐंग्स्ट' (Angst) की संज्ञा देते हैं।

हिन्दी के प्रख्यात कवि निराला ने पौरुष के साथ करुणा का भी भूयिष्ठ वर्णन किया है। वेदना और दुःख की ऐसी अनुभूति अन्यत्र दुर्लभ है।[2]

निष्कर्ष यह है कि सृष्टि में सर्वत्र वेदना है। किन्तु यहाँ एक अनुत्तरित संप्रश्न बना रहता है कि यदि स्रष्टा आनन्दमय है तो जीवन और जगत् में दु:ख क्यों है ? सृष्टि आनन्दमय ब्रह्म से उद्गत हुई है। ब्रह्म सृष्टि करके उसमें अनुप्रविष्ट हो जाता है। अतः आनन्द की प्राप्ति सृष्टि में होनी चाहिए, जिसके सम्बन्ध में वेदनावादी कुछ उतर न देकर, उत्तर न दे पाने की स्थिति को भी वेदना मानते हैं।

साहित्य में वेदना शोक विषाद, दु:ख इत्यादि की अभिव्यक्ति का भी उद्देश्य 'आनन्द' की उपलब्धि है। काव्य के द्वारा आनन्द की प्राप्ति ही उसका एकमात्र महत्तम उद्देश्य है। इसीलिए 'काव्यानन्द' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग होता है, जिसे एक चरण और आगे बढ़कर 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' माना गया है। वेदना की स्वीकृति और साहित्य के माध्यम से उसकी विवृति का उद्देश्य यदि आनंद है तो वेदनावाद को वेदना-नैरंतर्य-सम्बंधी प्राथमिक प्रतिपत्ति पर आघात लगता है, जिसका भी उत्तर वेदनावाद के समक्ष नहीं है।

बुद्ध ने मज्झिम निकाय के अवलंबन के द्वारा अतिशयताओं को अस्वीकार किया है, किंतु अष्टांगिक मार्ग तथा ऐसे आदेशों से परिधित बुद्ध का मध्यम प्रतिपदस्थ जीवन-दर्शन आतिशयिक (Extremist) नहीं है ? और, यदि मध्यम मार्ग की सार्थकता को स्वीकार भी कर लें तो स्वतः दो आतिशय्य के तटबंधों से बँधा बुद्ध का जीवन वस्तुतः मज्झिम-निकायस्थ माना जाएगा ? और फिर सभी व्यक्तियों के लिए यह मार्ग दु:ख से निस्तार के लिए संभव है ? आइ० ए० रिचर्ड्स ने बुद्ध को मध्यमा प्रतिपदा के वेदना-निस्तीर्ण-कारी सिद्धांत को निर्दोष और व्यवहार्य नहीं माना है। इनकी इस अस्वीकृति में भी वेदना है, किंतु व्यंग्य के अनुगुंथन के साथ—

"And He the Awakened One.
Forsaking wife and Son.
Risked all upon his own unholpen Will
To kill each spark (Sun)
Whereby men seek or shun
Until
The very Seed of Sorrow.
Desire itself, cut off its own to-morrow.

Can man like these be seen
Stepping a Mean ?''

(Goodbye earth and other poems.
: I. A. Richards 1958
P. 12-13.)

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के परंपरीण दर्शन के विरुद्ध अरविंद ने जगत् को भी उतना दी सत्य माना है, जितना सत्य स्वयं ब्रह्म है । अत: 'जगत्' की वेदना को मायाश्रित, मिथ्याश्रित, क्षणिक तथा आभास्य नहीं माना जा सकता । यहीं, वेदनावाद की वेदना की अर्थव्याप्ति व्योम-सी विस्तीर्ण हो जाती है ।

सृष्टि और स्रटा के प्रति 'संप्रश्न' का शाश्वत भाव दर्शन और साहित्य का आज भी उसी प्रकार उपजीव्य है, जैसा विज्ञान के व्यापक आविष्कार तथा संघटन के पूर्व था । समासत: यह सत्य है कि 'वेदना' सर्जन की मूल प्रक्रिया-भावना है । यह प्रश्न भिन्न होगा कि इस वेदनावाद के प्रति हमारा दार्शनिक या साहित्यिक दृष्टिकोण क्या हो ?

---

१. SAVITRI : श्री अरविन्द (१९५४) पृष्ठ २९८

२. (क) 'स्नेह-निर्झर बह गया है
रेत-सा तन रह गया है
आम की यह डाल जो सूखी दिखी
कह रही है—अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते—पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है ।''

[अपरा]

\+ \+ \+

(ख) ''दु:ख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही ।''

[सरोजस्मृति : अनामिका]

शोकगीति

हिंदी की शोकगीति अँगरेजी की एक प्रमुख गीतिकाव्य-विधा Elegy की प्रभाव-पीठिका पर उत्पन्न हुई है। अँगरेजी का Elegy शब्द ग्रीक भाषा के Elegeia—Elegos शब्द से निष्पन्न है। यह ग्रीक शब्द भी लैटिन के Elegia शब्द से उत्पन्न है, जिसका तात्पर्य विलाप (Lament) था। अँगरेजी में Elegy के जो अर्थ किये जाते हैं, उनमें प्रमुख हैं,—A song of mourning : a funeral song : a poem of serious, pensive or reflective mood, a poem written in elegiac metre : A short poem of lamentation or regret, called forth by the death of a beloved or revered person or by general sense of the pathos of mortality : a song of Epitaph in which the dead spoke in the first person. ग्रीक शोकगीति में प्रेम तथा युद्ध (Love and war) ही इसका विषय था। आर्किलोकस (Archilochus) ने ई० पूर्व सातवीं सदी में इसका प्रयोग किया था। हिंदी में Elegy को शोकगीति, शोकगीत, करुणकाव्य, विलापगीत, मरसिया इत्यादि कहते हैं, किन्तु सर्वत्र प्रचलित एवं सर्वस्वीकृत नाम 'शोकगीति' ही है।

Elegiac Couplet का जर्मन-साहित्य में भूयिष्ठ प्रयोग मिलता है। इस Elegiac Couplet अथवा पंक्तिद्वयात्मक शोकगीति में भगण-पद्धति—Dactylic—(SII—आदि मात्रा गुरु तथा अन्तिम दो मात्राएँ लघु) पर प्रथम पंक्ति षट्पदी (Hexameter) तथा द्वितीय पंक्ति पंचपदी (Pentameter) होती है। इसके अतिरिक्त आरोह-अवरोह के भी नियम हैं। अँगरेजी में इन समग्र नियमों से निबद्ध शोकगीति के दोहे नहीं रचे गए, जैसा जर्मन भाषा में प्रचुरता से प्राप्त हैं, तथापि Coleridge ने इसका स्वरूप इस प्रकार उपस्थित किया है—

"In the hexameter rises the fountain's silvery colunon,
In the pentameter aye falling In melody back."

आज अँगरेजी में Elegy का जो काव्य-सिद्धांत स्वीकृत है, वह Archilochus से भिन्न है। शोकगीति के आधुनिक स्वरूप का सूत्रपात ग्रीस में सर्वप्रथम एफेसस (Ephesus) के कैलिनस (callinus) ने ई० पू० ६५० में किया था। उसके कुछ ही बाद स्पार्टा के टिट्'स (Tyrtacus) ने शोकगीति लिखी। इन दोनों कवियों ने युद्ध तथा राष्ट्रीयता के भाव शोकगीति में अनुस्यूत किए, जबकि माइमर्नस (Mimnernus) ने प्रेम-शृंगार-विषयक शोकगीति (Amatory Elegy) लिखी। मेगारा (Megara) के थ्योग्निस (Theognis) की शोकगीति में यौधेय तथा मानवीय प्रेम के शोकास्पद पक्ष का सम्यक् समन्वय तथा ग्रीक शोकगीति का श्रेष्ठ दृष्टांत मिलता है।

थ्योक्रिटस (Theocritus), बायन (Bion) तथा मौस्कस (Moschus) की रचनाएँ शोकगीति के विशेष प्रकार मानी जा सकती हैं, बल्कि इनका उपयुक्त नाम उपाख्यान-गीत (Idyll) हो सकता है। गैलस (Gallus) ने लैटिन में सर्वप्रथम शृंगार-शोकगीति (Erotic Elegy) लिखी, जो आज लुप्तप्राय है। सिंथिया (Cynthia) की शोकगीतियाँ लैटिन में प्रतिमान के रूप में स्वीकृत हैं। इनके समकालीन टिबुलस (Tibullus) थे। ओविड (Ovid) ने भी कई प्रकार की शोकगीतियाँ लिखीं।

अँगरेजी में सोलहवीं सदी से शोकगीति का प्रयोग अंत्येष्टि-संस्कार तथा विलाप के लिए होने लगा। स्पेंसर (Spenser) ने १५९१ ई० में आधुनिक प्रतिमान पर (The Daphnaida) नामक शोकगीति लिखी। मिल्टन (Milton) की शोकगीति Lycidas को सर्वाधिक महत्त्व मिला। शेली (Shelley) की Adonais (Keats पर) तथा मैथ्यूअर्नाल्ड (Matthew Arnold) की Thyresis (अपने मित्र Clough पर) नामक शोकगीतियों को भी प्रसिद्धि मिली। अट्ठारहवीं सदी तक अँगरेजी में शोकगीति का प्रचार-प्रसार हो चुका था। १७५१ ई० में ग्रे (Gray) ने 'Elegy written in a country Churchyard' नामक शोकगीति लिखी, जिसकी प्रभूत प्रशंसा हुई। फिर शोकगीति के स्वरूप-विस्तार के परंपरीण मानदंड को अस्वीकार कर दिया गया और इसी आधार पर यदि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) की 'Lucy' शोकगीति होने के लिए आकार में अत्यन्त लघु है तो टेनिसन

(Tennyson) का On memoriam शोकगीति की आख्या धारण करने के लिए बहुत बृहत् है। जेम्स हैमंड (James Hammond) ने Ovid तथा Tibullus के शृंगारिक शोकगीति का सफलता-पूर्वक पुनरुत्थान किया। फिर Lamartine ने फ्रेंच में Le Lac नामक शोकगीति लिखी, जिसका स्थान ग्रे-लिखित अँगरेजी-शोकगीति जैसा था। Camoens के प्रयत्न से पुर्तगाल में शोकगीति का उपस्थापन तथा प्रसार हुआ। Chiabrara तथा Filicai के नाम इताली भाषा के अग्रणी राष्ट्रीय शोकगीतिकारों में पांक्तेय हैं।

जर्मन भाषा में शोकगीति का स्वरूप मूलत: विलाप तथा शोक से संबद्ध नहीं है। गेटे (Goethe) ने Ovid की प्रेरणा पर शोकगीति लिखी है। अमेरिका में Walt Whitman – लिखित "When Lilacs Last in the Dooryard Bloom'd" शोकगीति प्रसिद्ध मानी जाती है, जो लिंकन की हत्या से शोक-प्रेरित होकर लिखी गई है। अँगरेजी के शोकगीतिकारों में मिल्टन, शेली, आर्नाल्ड तथा ग्रे शीर्षण्य हैं। अँगरेजी शोकगीति की यह शिल्प-सज्जित, भाव-विकसित परंपरा आधुनिक हिन्दी-कवियों के सामने थी। अँगरेजों के भारत आने पर अँगरेजी भाषा तथा साहित्य के अध्ययन के साथ इन विधाओं का संघटन हुआ। फिर भी हिन्दी में शोकगीतियाँ बहुत नहीं लिखी गईं।

शोकगीति (Elegy) के आधुनिक काव्य-स्वरूप का विकास कई स्रोतों तथा तत्वों से हुआ है। इनमें Lyrical element या गीतिकाव्यात्मक या वैणिक तत्व सर्वोपरि है। इसमें गेयता तथा संक्षिप्त वृत्ति की प्रधानता होती है। शोकगीत (Elegy) का उद्भव काव्य अथवा गोप-काव्य (Pastoral song) से होना अधिक स्वाभाविक तथा ऐतिहासिक है। गीत के तीन स्तर माने जा सकते हैं—(१) लोकगीत (Folk song), (२) ग्राम-गीत (Pastoral song), तथा (३) शास्त्रीय गीत (Lyrical song)। लोकगीत-ग्रामगीत ही कालांतर में कला-गीत या शास्त्रीय गीत का रूप-धारण करते हैं। काव्य का अधिकांश ग्रामचेतनान्वित लोकगीतों का शास्त्रीकृत रूप है। शोकगीति का सीधा सम्बन्ध ग्रामगीत से है। ग्रामगीतों में शुक्लता-शुद्धता तथा ऋजुता-मार्मिकता का सहज सन्निवेश होता है।

बौद्ध-साहित्य के चर्यागीत ग्रामचेतनान्वित होते हुए भी शास्त्रीयता में कोटीकृत हैं। गीतगोविंद शुद्ध शास्त्रीय है। हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में

सूर-तुलसी-कबीर ने गीतिक्षेत्र में विविधि प्रयोग किए हैं । इनमें कबीर की गीति-चेतना प्रतीक-गर्भ रहस्य से आवेष्टित होकर भी अधिक सार्वजनिक बन सकी । सूर-तुलसी के दोषात्म-स्वीकरण गीतों (Confessional songs) ने भी भारी संख्या में नान्यथोपाय, भक्त, आत्मसाद-प्रिय तथा आस्तिक व्यक्तियों को आकृष्ट किया ।

ग्रामगीतों में समवेत गान (Chorus) की प्रागैतिहासिक परंपरा है । मानवेतर प्राणी के साथ आत्मीयता की सहज स्थापना ग्रामगीत की विशेषता है । ग्रामगीत का प्रधान रस करुण है । इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि समग्र जीवन ही करुणा-पूर्ण स्वीकार किया गया है । 'करुण एव एको रस' से 'सब्बं दुक्खं' तक सर्वत्र, सर्वदैव इसी दुःख का स्तवन मिलता है । दूसरे, ये गीत अधिकांशतः स्त्रियों द्वारा गाए जाते हैं और स्त्रियां स्वभावतः आत्मसाद-भावना-प्रधान होती हैं ।

पश्चिम में ये ग्रामगीत (Pastoral song) Theocritus तथा Vergil द्वारा शास्त्रीयता एवं परिनिष्ठा को प्राप्त हुए, जिसे eclogue या ग्रामगीत-विशेष कहा जाने लगा । यहाँ भी करुणा का वह तत्त्व विद्यमान था । आगे चलकर पेट्रार्क तथा बोकेशियो ने भी वर्जिल के मानदंड पर ग्रामगीत लिखे । Pastoral song तथा Eclogue के इस करुण तत्त्व का विकास आगे चलकर Dirge या अंत्येष्टि-गीत की शाखा में हुआ । उस समय भी Pastoral का संबंध विषय से तथा Ecloque का संबंध शिल्प से था ।

Dirge या अंत्येष्टि-गीत ग्रामगीत का एक रूप शोकगीत ही था । रोम में एक विचित्र पद्धति थी । यदि किसी व्यक्ति का देहान्त हो जाता तो उसकी अरथी के साथ बहुत से लोग मृत व्यक्ति की प्रशंसा के गीत नीनिया (Nenia) गाते चलते थे, जो यूनान के Monody, Threnody तथा Epicedium के सदृश होते थे । Dirge तथा Elegy में प्रधान अन्तर यह है कि Dirge विशेष-रूप से अंत्येष्टि अथवा श्राद्ध-संस्कार के अवसर पर गाए जाने के लिए लिखे जाते हैं, आकार में लघु, गेय एवं शिल्प में अकृत्रिम एवं ऋजु होते हैं, जबकि शोकगीति की सीमा इन सबों से विस्तृत है । Dirge के उदाहरण में Shakespeare के "Feare no more the Heat O' the Sun", John Welester के "Call for the Robin Redbereast and the wren" तथा William Coltins के "A song from Shakespear's symbeline"

प्रमुख माने जा सकते हैं। इस श्रद्धांजलि-गीत में करुणा का ही एकमात्र स्वर स्पष्टत: लक्षित है। ये श्रद्धांजलि अथवा अंत्येष्टि-गीत (Dirge) दिवंगत आत्मा के सम्मान में आयोजित भोज (श्राद्ध-संस्कार) के समय भी परिवार के सदस्यों द्वारा गाए जाते थे, किंतु कालान्तर में ये गीत किराए पर रोनेवाली स्त्रियों (Hired wailing women) द्वारा गाए जाने लगे, जिन्हें प्रेफेसी (Praefecae) कहते हैं। फिर ग्रामगीत का यह अंत्येष्टि-गीत बाद में साहित्यिक शास्त्रीयता का रूप प्राप्त करने लगा और एक सहज विलापगीत (Simple mournful lyric) बन गया। किन्तु इन गीतों में अब भी ग्रामचेतनान्विति शेष थी

समासत: आधुनिक शोकगीति (Elegy) की उत्पत्ति ग्रामगीत की ग्राम चेतनान्विति, ऋजुता-शुद्धता, मार्मिकता-सहजता, मानवीय संवेदना-समवेदना, अंत्येष्टि गीत के शोकविह्वल श्रद्धांजलि-संगीत-तत्त्व तथा विकसित प्रगीत-काव्य की शास्त्रीयता, शिल्प एवं शैली के रासायनिक सम्मिश्रण से मानी जा सकती है।

उर्दू में शोकगीति को 'मरसिया' कहते हैं। यह एक अरबी शब्द है। विशेषत: किसी की मृत्यु के संस्मरण में जो गीत लिखा जाए, उसे मरसिया कहते हैं। उर्दू में मरसिया की रचना मूलतः धार्मिक दृष्टिकोण से हुई है। हजरत मुहम्मद साहब के नवा से इमाम हुसेन तथा उनके साथियों के संस्मरण में, जो कर्बला के मैदान में शहीद हुए थे, लिखे गए शोकगीत मरसिया कहलाते थे। कालान्तर में उर्दू का मरसिया धार्मिक परिसीमा से ऊपर उठा है और अब सामाजिक-वैयक्तिक करुणा को भी मरसिया में प्रश्रय मिलने लगा है। आज 'मरसिया' के लिए 'मुसद्दस' की विधा सर्वस्वीकृत हो चली है।

'शोक' शब्द संस्कृत 'शुच्' धातु से निष्पन्न है (शुच् + घञ् = शोक:)। 'शुच्'—शोके, पूतो भावे—के अर्थ में प्रयुक्त धातु है। अर्थात् 'शुच्' धातु का अर्थ शोक एवं उदात्तीकरण दोनों के साथ संबद्ध है। 'शोक' करुण रस का स्थायी भाव है। भरत ने शोक की परिभाषा इस प्रकार की है—'शोको नाम इष्टजनवियोग—विभवनाशवधबन्धनदु:खानुभवनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते' (नाट्यशास्त्र) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी प्रायः इसी परिभाषा के साम्य में कहा है,—'इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।' अत: शोक के लिए वियोग का भाव प्रमुख है। इसीलिए शोकगीति में विप्रलंभ-रूप का चित्रण-

वर्णन होता है। शोक एक स्थायी भाव है। स्थान-काल-वर्ण निरपेक्ष यह भाव प्रत्येक मनुष्य के अन्तर्गत अध्युषिक होता है। इसका रस करुण है। धनंजय ने करुण रस के सम्बन्ध में लिखा हैं—"इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुतम्"। विश्वनाथ ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।' भवभूति का उत्तररामचरितम् करुणकाव्य का उदाहरण है। भवभूति ने करुण रस को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है—"एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्त्तान्। आवर्त्त-बुद्बुदतरङ्ग— मयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्।"

दुःख मानव हृदय को सुख की अपेक्षा अधिक छूता है। अरस्तू का Katharsis यही विरोचन है। लेसिंग ने कथारसिस को अर्थविशुद्धीकरण या निर्मलीकरण (Purification) माना है। इससे आत्म-विश्रांति मिलती है।

वाल्मीकि का क्रौंच-बध-वर्णन शोकगीति का यदि आदि उदाहरण माना जाए तो आपत्ति नहीं होनी चाहिए, यद्यपि शिल्प तथा स्वरूप में यह श्लोक शोकगीति के समग्र तत्त्वों से समन्वित नहीं है, तथापि करुणगीति के केंद्रीय प्रभाव को तो उत्पन्न करता ही है,—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वगमः शाश्वती समाः
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।"

राम-सीता-लक्ष्मण के वन-गमन के समय भी प्रिय-वियोग-जनित एक शोकात्मक स्थिति उत्पन्न हुई थी। सीता-हरण के पश्चात् राम के शोकाकुल हृदय का उद्गार भी कुछ ऐसा ही है,—

"वृक्षाद्वृक्षं प्रधावन् स गिरेश्चाद्रिं नदान्नदीम्
बभूव विलपन् रामः शोकपङ्कार्णवाप्लुतः
अपि कच्चित्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया
कदम्ब यदि जानीष शंस सीतां शुभाननाम्।"

(वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकांड)

कालिदास ने अज-विलाप में शोकगीति का अविकसित शिल्पगर्भ, किन्तु उत्कृष्ट मर्मस्पर्शी रूप उपस्थित किया था,—

"गृहिणी सचिव: सखी मिथ: प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ
करुणा-विमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ।"
(रघुवंशम्, ८,६७)

संस्कृत में करुण-गीतात्मक तत्त्वों की एक सुदीर्घ परम्परा है। यह भी सत्य है कि शोकगीति का वर्तमान स्वरूप पश्चात्य Elegy के स्वरूप तथा शिल्प के संघटन का ही परिणाम है।

सूफी कवियों में यह करुणा मिलती है। जायसी का नागमती-वियोग शोकगीतात्मक है। कबीर की साखियों में भी इसका न्यूनाधिक अंश विभिन्न शिल्प-शैलियों में मिलता है।

भारतेंदु के निधन पर प्रेमघन द्वारा लिखित 'शोकाश्रु बिंदु' नामक शोकगीति प्रसिद्ध है। बाबू रघुवीर नारायण ने हिन्दी तथा अँगरेजी में कई शोकगीतियाँ लिखी हैं, जिनमें 'प्यारे शिवेश्वर' प्रमुख है। सुमन ने प्रसाद जी के निधन पर 'हा प्रसाद' शीर्षक शोकगीति लिखी। उदयशंकर भट्ट का 'सैनिक की मृत्यु-शय्या पर,' प्रभात का कलेजे के टुकड़े' एवं कामता प्रसाद गुरु का 'ग्रामीण विलाप' शोकगीति के कुछ उदाहरण हैं। प्रसाद का 'आँसू' तथा पंत की 'ग्रन्थि' भी प्रकारान्तर से शोकगीति के अन्तर्गत परिगण्य हैं। इस परंपरा में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की 'सरोज-स्मृति' शोकगीति का सर्वतत्त्वोपेत तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध उदाहरण है।

'सरोज-स्मृति' की रचना १९३५ ई० में हुई थी। इसमें निराला ने आत्मानुभूत विषाद को शोकगीति का उपजीव्य बनाया है। इसमें स्थान-स्थान पर व्यंग्य से स्यूत करुणा का ऐसा विलक्षण उदाहरण प्राप्य है, जो अप्रयुक्त-पूर्व है। निराला ने पहली बार आगे बढ़कर अपने शोक तथा आत्म-पराजय को स्वीकार करते हुए कहा,—

"दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।"

आधुनिक हिन्दी कविता में भी शोकगीति के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं। किन्तु इसकी पृष्ठभूमि गंभीरता के स्थान पर व्यंग्य की हो गई है। इस विषाद-निश्चित व्यंग्य में शिरश्चरण आन्दोलित कर देने की शक्ति देखने को मिलती है। नलिन विलोचन शर्मा की 'कशिपु : हिरण्य-रहित" शीर्षक की अन्तिम कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं,—

"पिता ने पुत्र की हत्या की —
सुर्खी थी, पुत्र माँगता भोजन था,
खीझ कर कशिपु ने
सड़क पर पटक दिया था
प्रह्लाद को, हिरण्य-रहित पिता ने;
पुत्र मुक्त हो गया, पिता बंदी।
मातम का दिन कविता पर पाबंदी।"

उपसंहारतः आधुनिक हिन्दी-कविता में शोकगीति के भाव तथा शिल्प दोनों में विविध प्रयोग हो रहे हैं। अभी तक हिन्दी की शोकगीति का कोई स्थिर प्रतिमान या निकष निर्मित नहीं हो सका है, जो एक आवश्यक प्रक्रिया तथा उद्भासित भविष्य की पूर्वसूचना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

अश्लीलता

'अश्लीलता' शब्द अपनी वर्तमान अर्थव्याप्ति में अति प्राचीन नहीं है। संस्कृताभिधान-ग्रंथों में 'श्लील' शब्द तो सर्वत्र उपलब्ध है, किन्तु 'अश्लील' या 'अश्लीलता' का प्रयोग नहीं मिलता। 'शब्दकल्पद्रुम' भी अश्लील का उल्लेख नहीं करता। 'वाचस्पत्यम्' संस्कृताभिधान में 'श्लील' शब्द की व्याख्या के क्रम में 'अश्लील' शब्द का प्रासंगिक प्रयोग इस प्रकार हुआ है—"शोभायुक्ते तद्विपरीतो हि अश्लीलः।" अँगरेजी में भी 'अश्लील तथा अश्लीलता' के पर्याय 'ऑबसीन' (Obscene) तथा 'ऑबसीनिटी' (Obscenity) शब्द प्राचीनतर नहीं हैं। अँगरेजी में १५९३ ई० में ऑबसीन तथा १६०८ ई० में 'ऑबसीनिटी' का प्रथम प्रयोग मिलता है। फिर १६३७ ई० में 'ऑबसीननेस' (Obsceneness) शब्द भी प्रयुक्त हुआ। १६०८ ई० में जब प्रथम-प्रथम 'ऑबसीनिटी' शब्द का अँगरेजी में व्यवहार हुआ, उस समय इसका अर्थ था,--

(Obscene quality or character, Indecency, Lewdness especially of Language)

१८०७ ई० में अर्थात् एक शताब्दी के अनंतर अँगरेजी-कोश ने इस शब्द के अन्य अर्थ भी संगृहीत कर लिए, जिनमें Foulness, Loath-someness foutlact, dirty work इत्यादि प्रमुख हैं।

'अश्लील' शब्द 'श्लील' का निषेधात्मक रूप है, जिसका कोश-ग्रंथों में केवल 'वाचस्पत्यम्' में प्रासंगिक उल्लेख है। 'श्लील' शब्द संस्कृत में विशेषण है, जिसका तीनों लिंगों में प्रयोग होने के कारण 'श्लीलः' 'श्लीला' तथा 'श्लीलम्' तीन शब्द बनते हैं। श्लील शब्द 'श्रील' के पर्याय में प्रयुक्त होता है। 'श्रील' की व्याख्या होगी—'श्रीर्विद्यतेऽस्येति' अर्थात् 'श्रीयुक्त'। इसलिए अमरकोष में इसका अर्थ है 'लक्ष्मीवान्'। शब्दकल्पद्रुम में इसका अर्थ है 'शोभायुक्त'। राजनिघंटु में श्रीलता का अर्थ महाज्योतिष्मती किया गया है। शब्दकल्पद्रुम में इसका एक अन्यार्थ 'श्रीविशिष्टालता' भी उपलब्ध है। 'श्लील' शब्द की व्याख्या भी कोशकार 'श्रील' शब्द की व्याख्या के अनुरूप, श्रीर्विद्यतेऽ-

स्येति' करते हैं। 'श्रील' शब्द श्री + (सिध्यादित्वात्) लच् के संयोग से बना है।

'श्लील' शब्द भी 'श्री' में लच्' प्रत्यय संयुक्त होने से निरुक्त माना गया है। 'श्री' के रकार का लकारादेश 'पृषोरस्य लः' हो गया है। प्राकृत में और फिर परवर्ती अपभ्रंश में 'र' के स्थान पर 'ल' के आदेश के कारण प्राकृत वैयाकरण को 'रलयोरभेदः' सूत्र लिखना पड़ा। 'श्लील' का अर्थ लक्ष्मीवान् और शोभायुक्त या शोभन स्वीकृत हुआ। श्लील के विपरीत 'अश्लील' शब्द बनाया गया, जिसका व्युत्पत्यर्थ होगा, श्रीहीन और अशोभन। 'अशोभन' शब्द में अपशकुन का भी भाव अनुस्यूत है।

अँगरेजी के ऑबसीनिटी शब्द के साथ 'वाल्गैरिटी' तथा पोर्नोग्राफी' शब्द भी प्रचलित हैं, जिनके अर्थ-वैषम्य पर हिन्दी में बहुत कम ध्यान दिया जाता रहा है। अँगरेजी ऑबसीनिटी (Obscenity) वाल्गैरिटी (Vulgarity) तथा पोर्नोग्राफी (Pornography) की हिंदी क्रमशः अश्लीलता, ग्राम्यता तथा गंदा साहित्य या (कामोत्तेजक) वेश्यावृत्त घासलेटी या बाजारू साहित्य) है।

साहित्य, समाज और संविधान तीनों के परिप्रेक्ष्य में उपर्युक्त तीनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थव्याप्ति एवं स्थिति रखते हैं।

संविधान की दंड-संहिता में ये तीनों ही दंडनीय अपराध के अंतर्गत आते हैं। साहित्य की संहिता में 'अश्लीलता' सर्वथा निरपराध एवं सर्वथैव स्वीकरणीय तत्त्व है। ग्राम्यता अक्षम्य अपराध है। और (कामोत्तेजक) 'वेश्यावृत्त' या गंदा साहित्य वर्णन की वैयक्तिकता एवं निर्वैयक्तिकता के मानदंड पर कभी दंडनीय तथा कभी क्षम्य माना जाता है। अँगरेजी कोश में पोर्नोग्राफी का अर्थ कुछ इस प्रकार है—'वेश्याओं तथा उनके संरक्षकों के जीवन, आचार आदि का वर्णन; अतएव साहित्य या कला में अश्लील की अभिव्यक्ति या उसके लिए सम्मति अथवा अपवित्र विषयों का वर्णन।'' किंतु साहित्य के लिये कोई विषय पवित्र या अपवित्र नहीं होता। पोर्नोग्राफी की यह व्याख्या निरर्थक है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अपने कुछ उपन्यासों और कहानियों में तथा जहूरबख्श ने अपनी कुछ कहानियों में वेश्यावृत्त आकलित किया है, जो पोर्नोग्राफी की सीमा से—अक्षम्य 'ग्राम्यता' तक स्खलित हो गया है, इसीलिए वह सम्यक् साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। इसके प्रमुख कारणों में निस्संगता का अभाव भी विचारणीय है। 'उग्रजी' के सम्बन्ध में समीक्षक नलिन विलोचन शर्मा की दृष्टि इस पक्ष को पुष्ट करती है,—

"उग्र की अभिव्यंजना में निर्वैयक्तिकता नहीं है। वे स्वयं कहते हैं कि उनकी पुस्तक का उद्देश्य है समाज का पर्दाफाश कर उसका सुधार करना। लेकिन इस सदुद्देश्य के लिए उन्हें समाजशास्त्रोचित गंभीर शैली के निबंध लिखना उचित था, सस्ते आकर्षणवाली कहानियाँ नहीं।"[1]

साहित्य में सोद्देश्यता स्वतन्त्र रूप से विचारणीय विवादास्पद विषय है, तथापि साहित्य का सौन्दर्य यदि कुछ सोद्देश्यता भी है तो उसकी लाक्षणिकता-व्यंजना और ध्वनि में ही। यह तत्त्व अन्तर्वर्तन ही रहे, जिससे साहित्य का स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट न हो। साथ ही 'कला-कला के लिए' या सभी कलाएँ (ललित) अनुपयोगी या उपयोगिताहीन होती हैं,—**All** art is quite useless.[2]

ऐसी स्थापना भी उपेक्षणीय नहीं है।

वर्णन की निस्संगता के ही कारण अलेक्जेंडर कुप्रिन का 'यामा द पिट' ('गाड़ीवालों का कटरा' हिन्दी-अनुवाद), प्रेमचन्द का 'सेवासदन' अमृतलाल नागर का 'सुहाग के नूपुर' एलबर्टो मोराविया का 'वूमन ऑव रोम' इत्यदि उपन्यास 'अश्लील वेश्यावृत्त' नहीं, वरन् उतम साहित्य के अन्तर्गत परिगण्य हैं।

पोर्नोग्राफी की व्याख्या काम-भावोद्रेक के केंद्र में की जाती है, जो शास्त्रों में गर्हित अपराध माना जाता है। पोर्नोग्राफी के सम्बन्ध में सामाजिक धारणा है,—"कला में पोर्नोग्राफी वह है, जो यौनेच्छा या कामोत्तेजना को बढ़ाती है।[2] शब्दाध्ययन के आधार पर Pornography का अर्थ है Graph of a harlot.

निष्कर्षतः पोर्नोग्राफी 'कामोद्रेक' या 'सेक्स-अपील' के कारण अपराध या प्रणिषेध (Proscription या Banning) के अन्तर्गत आती है, किन्तु "सेक्स-अपील" अपने में गर्हित है तो संसार का आधा वाङ्मय प्रणिषिद्ध होने योग्य है। लौरेंस ने इस सम्बन्ध में ऐसा ही कहा है "विश्व की श्रेष्ठ कविताएँ, चित्र, संगीत और कहानियाँ इसलिए श्रेष्ठ हैं कि उनमें सेक्स-अपील करनेवाले सौंदर्य-गुण विद्यमान् हैं ·· ··· ···। सेक्स मानव जीवन में एक अत्यन्त शक्तिशाली, हितकारी और आवश्यक पौष्टिक तत्त्व है, हम अपने अंतर में सूर्यरश्मियों की तरह इसके उष्ण तथा प्राकृतिक स्रोत का अनुभव कर इसका आभार मानते हैं।"[4]

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तर्गत काम का सम्मानित स्थान है। अतः साहित्य में भी यदि 'काम' के केन्द्रण में वर्णन हुआ है तो यह कदापि अपराध या अनैतिक नहीं माना जाएगा।

यहाँ लौरेंस उद्धरणीय हैं,—

"There's nothing with sexual feelings in themselves, so long as they are straight forward and not sneaking or sly."

अतः पोर्नोग्राफी की अशुद्ध व्याख्या के कारण अनेक ऐसे ग्रंथों को भी प्रणिषिद्ध (बैंड) किया गया है, जो विशुद्ध साहित्य के अंतर्गत परिगण्य हैं। वस्तुतः पोर्नोग्राफिक साहित्य वह है, जो विकृत' काम को विकृत रूप से उपस्थित करता है। 'काम' अपने में आदरणीय माना गया है। 'काम' देवता है। इसीलिए कामदेव या क्युपिड की कल्पना में औदात्य एवं महनीयता अनुग्रथित है। पोर्नोग्राफी वह होगी, जो इस देवरूप काम का विकृतिपूर्वक अपमान करती है। संविधान की एतत्संबंधी दंड-संहिता एवं समाजशास्त्र को डी० एच० लौरेंस की पोर्नोग्राफी-परिभाषा स्वीकार कर लेनी चाहिए। इससे समाज और साहित्य दोनों का कल्याण अनुकल्पित है। उनकी परिभाषा इत्थंविध है,—

....."पोर्नोग्राफी सेक्स को अपमानित तथा गंदा करने का प्रयास है। यह अक्षम्य है। उदाहरण में पिक्चर पोस्टकार्डों को लिया जाए। ये चोरी-चोरी बड़े-बड़े नगरों में बिकते हैं। ये इतने भद्दे होते हैं कि इन्हें देखकर आप दंग हो जाएँगे। यह मानव-शरीर और मानव-संबंध का अपमान है! भद्दे और सस्ते होने के कारण ये मानव-नग्नता को कुरूप तथा पतित होने के कारण यौन-कर्म को हेय, तुच्छ और सस्ता बना डालते हैं।"[6]

निष्कर्ष-रूप में साहित्य-समीक्षा को दंड-सहिता में अश्लीलता निरपराध है, वेश्यावृत्त (पोर्नोग्राफी) निस्संगता-निकष पर कभी सदोष कभी निर्दोष माना जाता है और ग्राम्यता अक्षभ्य अपराध है।

संविधान की दंड संहिता में तीनों दंडनीय अपराध हैं। तथापि ग्राम्यता को अपेक्षया अल्प अपराध माना गया है।

यही दशा समाज की नैतिकता की दंडसंहिता में है। वहाँ भी ग्राम्यता अक्षम्य नहीं है, जबकि अश्लीलता और वेश्यावृत्त अभिनिषिद्ध हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर साहित्य और संविधान या साहित्य और समाज की दृष्टि विपरीतदिग्गामी है। तो क्या साहित्य का संविधान और

समाज से पार्थक्य, वैमनस्य और विरोध है ? इस स्थापना के पूर्व साहित्य और समाज के संबंधों की व्याख्या आवश्यक होगी। इतना तो निश्चित है कि साहित्य की सूक्ष्मता के समक्ष समाज की स्थूलता अनेक बाह्य विरोध रखती है। साहित्य की आशयता और आयाम समाज से वृहत्तर है।

अश्लीलता, गंदा-साहित्य (वेश्यावृत्त) और ग्राम्यता — इन तीनों में सर्वाधिक विवेचित, विवादास्पद विषय 'अश्लीलता' का रहा है।

अश्लीलता पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर इसका संबंध नैतिकता से बहुधा स्थापित किया जाता है। नैतिकता का स्थान दर्शन के अंतर्गत है।

दर्शन के दो भेद किए जाते हैं—(१) अध्यात्म-दर्शन या तत्त्व-दर्शन तथा (२) व्यावहारिक दर्शन। पुनः व्यावहारिक दर्शन के तीन उपभेद हो सकते हैं,—(१) तर्कशास्त्र (Logic), (२) सौंदर्यशास्त्र तथा (Esthetics), ३) आचारशास्त्र (Etchies)। तर्कशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र तथा आचारशास्त्र की सार्थकता व्यावहारिक दर्शन की परस्पर-पूरकता में ही है। ज्ञान, भाव (अनुभूति) और क्रिया ही दार्शनिक शब्दावली में क्रमशः तर्कशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र एवं आचारशास्त्र प्रतिशब्द हैं। तर्कशास्त्र ज्ञान के आदर्श की व्याख्या-स्थापना करता है। सौंदर्यशास्त्र भाव के आदर्श को निरूपित करता है और आचारशास्त्र आचरण या क्रिया या कर्म के आदर्श को स्थापित करता है। तर्कशास्त्र मस्तिष्कीन 'ज्ञान' है, सौंदर्यशास्त्र, हृदयानुभूत 'भाव' है और आचारशास्त्र आचरण-सम्बन्धी, 'क्रियान्विति' से युक्त आदर्श-स्थापन है। पहला सोचता है, दूसरा अनुभव करता है और तीसरा तदनुकूल व्यवहार करता है। अतः आचारशास्त्र का निरपेक्ष महत्त्व नहीं है। तीनों शास्त्रों में 'सत्यं सुन्दरं शिवम्' की अंतस्सापेक्षता है। तर्कशास्त्र 'सत्यम्' का, सौंदर्यशास्त्र 'सुन्दरम्' का और आचारशास्त्र 'शिवम्' का अध्ययन करता है।

नीतिशास्त्र को अँगरेजी में सायंस ऑफ मोरेलिटी और हिन्दी में नीतिदर्शन, नीतिशास्त्र, नीतिविज्ञान, आचारदर्शन, आचारशास्त्र या आचारविज्ञान कहते हैं। इन नामों से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि नीति और आचार परस्पर-पर्याय हैं। दूसरे यह कि यह दर्शन है, कला है, शास्त्र है या विज्ञान है, यह अभी तक अनिश्चित है या इसमें सबों के तत्त्व हैं। विज्ञान की पृष्ठभूमि पर विवेचन करने के कारण इसे आदर्श-निर्देशक विज्ञान कहते हैं।

आचारशास्त्र, इसमें जितने भी शास्त्रीय तत्त्व प्राप्य हों, मानव-जाति के आचरण की व्याख्या करता है। यह मानव-जीवन के कर्तव्याकर्तव्य, सदसद्,

शुभाशुभ, करणीयाकरणोय, औचित्यानौचित्य, दोषादोष, गुणावगुण, ऋतानृत, उत्तमाधम इत्यादि का अध्ययन एवं निरूपण करता है। नैतिकता का निरूपण ही इस शास्त्र का उद्देश्य है। नैतिकता के विपरीत जो कुछ है, उसे अनैतिक कहा जाता है। अश्लीलता की व्याख्या अनैतिकता के साथ की जाती है, अर्थात् अश्लीलता-अनैतिक तत्त्व है। साहित्य और अश्लीलता पर विचार के पूर्व साहित्य और अनैतिकता पर विचार आवश्यक-सहायक होगा।

नीति का शब्दिक अर्थ है, जिससे जोवन प्राप्त हो—"नीयते जोवनम् अनया" इति। इसीलिए नैतिकता की तुलना अंडे के छिलके से करना उचित है। अंडे के भीतर का जीवन जब परिपक्व हो जाता है तो छिलका फूट जाता है। यदि जीवन को प्रौढ़ि के बावजूद छिलका न फूटे तो अंत:स्थित जीवनी शक्ति नष्ट हो जाएगी। उसी प्रकार कलाकार जब दर्शन (जीवनदृष्टि) की प्रौढ़ि के अनंतर भी नैतिकता के बाह्यावरण को संकीर्ण परिधि मे वर्तुलित रह जाता है तो उसमें साहित्य का औदात्य नहीं आता। अत: साहित्य में नैतिकता नाम की कोई निरपेक्ष चीज नहीं है। अल्डस हक्सले ने कला की प्रौढ़ि के साथ नैतिकता के ह्रास की स्थापना की है,—"हायर द आर्ट, द फिउचर द मोरल्स।"[7]

आस्कर आइल्ड ने कला और नैतिकता की स्थापना सूत्रशैली में 'डोरियन ग्रे' की भूमिका में इस प्रकार की है,—

"कोई भी पुस्तक नैतिक या अनैतिक नहीं होती। पुस्तकें तो अच्छी या बुरी लिखी हुई होती हैं।"

किसी भी कलाकर को नैतिक सहानुभूति नहीं होती। अगर उसमें नैतिक सहानुभूति हुई तो इसका अर्थ होता है शैली का अक्षम्य दोष।

"कोई कलाकार कभी पतित नहीं होता। उसे प्रत्येक वस्तु को चित्रित करने का अधिकार है। कलाकार के लिए पाप-पुण्य चित्रांकन-सामग्री हैं।"[8]

अर्थात् साहित्य के अंतर्गत नैतिकता की चर्चा न केवल हास्यास्पद है, वरन् अक्षम्य है। अत: साहित्य में अनैतिकता नाम की कोई चीज नहीं होती। इसीलिए साहित्य के अंतर्गत 'अश्लीलता' नाम की चीज नहीं होती, क्योंकि 'अश्लीलता' 'अनैतिकता' की कोटि में परिगणित होती है।

अँगरेजी में अश्लीलता और साहित्य पर भूयिष्ठ विचार हुआ है। हिन्दी में इस सम्बन्ध में अलिपष्ठ विवेचन उपलब्ध होता है। हिन्दी में आचार्य नलिन

विलोचन शर्मा ने ऐतिहासिक दृष्टि से संभवत: सबसे पहले और सबसे अधिक निर्भीकता के साथ "दृष्टिकोण" में आज से बीस वर्ष पूर्व इस विषय पर विचार किया था। उक्त संकलन के प्रथम निबंध "साहित्य में ग्राम्यता और अश्लीलता" में वे लिखते हैं,—

"कला में ग्राम्यता चिंतनीय है। कला में अश्लीलता नासमझ आलोचकों का भ्रम है···

कलाकार ग्राम्यता से बिल्कुल बच नहीं सकता। आलोचक का काम है कि वह देखे कि कलाकार इससे कहाँ तक अपने को बचाए रख सका है। लेकिन आलोचक ने तो अपने को नियुक्त कर रखा है कला में अश्लीलता ढूँढ़ निकालने के लिए।"[9]

ऑल्डस हक्सले ने 'साहित्य में ग्राम्यता' नामक निबंध में वैयक्तिकता या आसंगता को ग्राम्य माना है। टी० एस० एलियट ने आलोचनाशास्त्र में एक कलाकार के लिए निर्वैयक्तिक होना इसीलिए अनिवार्य माना है। इसी निर्वैयक्तिता और निस्संगता के सम्यक् निर्वाह के अभाव में नलिनविलोचन शर्मा ने पांडेय बेचन शर्मा उग्र के 'चाकलेट' का कला-कृति की कोटि से बहिष्कार किया है,—

"मैं अपना आशय उदाहरण से स्पष्ट करूँ। उग्रजी का 'चाकलेट' कला-कृति नहीं है, मैं खुद भी मानता हूँ। लेकिन, इसलिए नहीं कि वह अश्लील है, वरन् इसलिए कि वह ग्राम्य है।"[10]

लेखक की कृति और आलोचक के मानदंड की आलोचना करते हुए नलिन जी ने पुन: लिखा है,—

"लेकिन आप जानते हैं कि उनके किसी आलोचक ने उनपर यह अभियोग कभी नहीं लगाया कि उनकी कला में ग्राम्यता है और इसलिए वह सदोष है। उनकी आलोचना जिसने भी की, वह इसीलिए कि उन्होंने अश्लील विषय को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। 'दृष्टिकोण' के प्रथम संस्करण के प्रकाशन के बहुत वर्षों बाद उग्र की इस पुस्तक के नये संस्करण में, किमाश्चर्यमत: परम्, स्वयं महात्मा गाँधी का एक पत्र उद्धृत है, जिसमें उन्होंने लेखक को अश्लीलता के दोष से मुक्त माना है। और आलोचक समझदारी की पटरी से यहीं उतर जाता है। अगर उग्रजी की वह रचना 'घासलेटी' है तो उसका अर्थ यही माना जा सकता है कि वह ग्राम्य है। और 'घासलेटी', इस अर्थ में, उग्रजी की

रचना के लिए जितना उपयुक्त है उतना ही पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी की तनकीदी जिहाद के लिए भी सच है।"[11]

नलिनजी एतत्संबंधी अपने विचार का समाहार इस प्रकार करते हैं—

"मैंने कहा—यौन-संबंध अपने में अश्लील नहीं।...साहित्यालोचन में विषय की अश्लीलता का प्रश्न उठाना ही असंगत है।"

नवम्बर १९५८ में प्रकाशित 'ज्ञानोदय' के प्रणय-अंक के परिशिष्टांक में नलिनजी ने 'प्रणयांकन में श्लील और अश्लील' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ प्रश्नों के उत्तर के प्रसंग में अश्लीलता पर सम्यक् रूप से विचार किया है, जो विषय को अनेकधा बाँधता है। उक्त निबन्ध में प्रश्न संख्या ३ इस प्रकार है—

'क्या प्रत्येक कलाकार के लिए आवश्यक है कि वह अपनी कृति की महानता और स्थायित्व की दृष्टि से स्वयं भी आचारगत और विशेषकर प्रणय संबंधी सामाजिक मान्यताओं से बँधकर चले? अपवादों के विषय में आप क्या कहेंगे?'

इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने लिखा—"एकदम नहीं, यद्यपि मैं आंद्रे जीद वगैरह की तरह कलाकार का अनैतिक होना अनिवार्य भी नहीं मानता। वह अनैतिक आचरण करता है तो इस कारण प्रशंसनीय, अनुकरणीय नहीं है; उसे समाज उचित-अनुचित, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दण्ड देता है तो उसे आत्मदया का शिकार भी नहीं होना चाहिए, दूसरों को सहानुभूति का भिखारी भी वह न बने। दुर्भाग्य से होता यही है कि वह अपने पर अपनी करुणा का अपव्यय करता है और चाहता है कि दूसरे भी उसके प्रति सदय बनें। आचरण की दृष्टि से यह घृण्य है। यह सब होते हुए भी वह महान् कलाकृति का सर्जन कर सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। कभी-कभी अनैतिक आचरण इसमें सहायक भी होता है। बहुधा अनैतिकता ऐसी राह पर मनुष्य को ले जाती है, जहाँ वह कुछ करने लायक नहीं रह जाता। आस्कर वाइल्ड अगर 'डि प्रोफंडिस' नहीं लिखता तो वह तथाकथित अनैतिकता की सजा भुगतने जेल न जाता...।"[13]

सत्रहवीं सदी में सर चार्ल्स सिडले अँगरेजी के एक प्रसिद्धि-प्राप्त लेखक थे। एकबार ये मदिरापान की विसंज्ञा में बिल्कुल नंगे हो गए और लोगों में ईश्वर के विरुद्ध उपदेश देने लगे। इसपर उक्त वीथि में युद्ध छिड़ गया। सिडले घर में भागे। उनकी खिड़कियाँ और दरवाजे तोड़ दिए गए। इस अनैतिक आचरण के लिए कानून ने उन्हें दण्डित किया।

उक्त लेखक के संबन्ध में ऐलेक क्रैग ने लिखा है कि—वह एक आदरणीय कत्रि था।[14]

नलिनविलोचन शर्मा ने नैतिकता के प्रति जिस दृष्टिकोण की स्थापना की है, उसमें उपर्युक्त घटना उदाहृत होती है। नैतिकता की परिधि में वर्तुलित कलाकार सम्भवतः महान् नहीं हो सकसा, जैसे उससे सर्वथा स्खलित होनेवाला भी महान् नहीं हो सकता। कलाकार की अपनी नैतिकता होती है। वह परंपरीण नेतिकता में अपने को परिधित नहीं रख पाता है।

ज्ञानोदय का दूसरा प्रश्न था—

"आपकी जिन विशेष कृतियों और पात्रों के सम्बन्ध में अश्लीलता का आरोप किया गया है, उनमें पक्ष-विपक्ष में रचयिता की हैसियत से आपका मंतव्य क्या है?"

इस प्रश्न का उत्तर नलिनजी ने निम्नलिखित पंक्तियों में दिया है,—

'मैं आज के लेखक से 'आज के हिंदी-लेखक' मानकर यही निवेदन कर सकता हूँ कि हिंदी का कोई लेखक भी अश्लीलता का अभियोग लगाने लायक नहीं। 'घेरे के बाहर' का लेखक बस इसीलिए थोड़ी प्रशंसा का अधिकारी है कि उसने हिंदी की Mrs. Grundy—हिंदी का लेखक—को उपहासास्पद सिद्ध किया है। शयनागार के द्वार के छिद्र से झांककर और मित्रों के प्रेम-पत्रों को पढ़कर अनुभव अर्जित करने और फिर ऐसे अनुभव को भी बिंदुओं से व्यक्त करनेवाले हिंदी के भीरु या पाखंडी लेखकों में एक तो ऐसा लेखक है!

यही कारण है कि जब अश्क ने मंटों का संस्मरण किसी पत्र में लिखना शुरू किया तो हिंदी के लेखक समझे कि मूर्त्ति-विध्वंस हुआ और उर्दू के लेखकों ने कहा कि क्या खूब, इसे छापिए, रोकिए नहीं?"[15]

'घेरे के बाहर' उपन्यास को प्रणिषेध-पूर्वक जब्त करने के समय नलिन-विलोचन शर्मा ने वीरेन्द्र वात्स्यायनजी को आश्वस्त किया था कि आवश्यकता पड़ने पर वे न्यायालय में उपस्थित होकर सतर्क-सप्रमाण यह सिद्ध कर देंगे कि प्रस्तुत उपन्यास में अश्लीलता नहीं है। यह प्रतिबद्धता एक ईमानदार समीक्षक के वैदुष्य एवं गरिमा के अनुकूल थी। तथापि उक्त ग्रंथ बिहार में प्रणिषिद्ध है

उक्त पत्र का अन्तिम प्रश्न था,—

"अश्लील का अस्तित्व या उद्‌भव कहाँ है? प्रणय-व्यापार में या उसके चित्रण में या कलाकार के मन में या कहीं और?"

इसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया—

"केवल पाठक के, देखनेवाले के मन में—जैसे सुनीता में अश्लीलता थोड़े ही है, या उसके चित्रकार में, अगर है कहीं तो सुनीता को उस रूप में देखना चाहनेवाले में है, जो उसे वैसा देखकर संकुचित हो जाता है।

अपनी ओर से इतना ही कि वात्स्यायन को महर्षि, कालिदास को महाकवि और सूरदास को परम भक्त माननेवालों को अश्लीलता की चिन्ता क्या? हाँ, उन्हें ग्राम्यता से बचने-बचाने का आग्रह रखना चाहिए। ग्राम्यता से आधुनिक हिंदी-साहित्य बुरी तरह ग्रस्त है।"[16]

यहाँ उत्तरदाता ने आत्मगतत्व या आत्मनिष्ठता की महत्ता भी अनुषंगतः सिद्ध की है। आत्मगतत्व की गरिमा निर्वैयक्तिकता में ही है, जिसके अभाव में अक्षम्य ग्राम्यता का दोष आ जाने का खतरा बना रहता है। शर्माजी की दृष्टि में हिंदी लेखकों का आत्मगतत्व, जिसमें स्वानुभूति भी स्यूत है, संकीर्ण और अभिव्यक्ति निर्वैयक्तिक-निस्संग न होने के कारण ग्राम्य है। यह निष्कर्ष सामाजिक है। वैयक्तिक उपलब्धियों को उन्होंने एकाधिक बार स्वीकृत किया है। नलिनविलोचत शर्मा ने हिंदी में पहली बार अश्लीलता, ग्राम्यता इत्यादि विवादास्पद शब्दों के सम्बन्ध में व्यापकता एवं निर्भीकता के साथ विचार किया है।

अश्लीलता पर उसी पत्र में अज्ञेयजी ने भी विचार किया है। उनके सामने प्रश्नावली का प्रथम प्रश्न इस प्रकार है —

"साहित्य में श्लील और अश्लील का प्रश्न उठाना कहाँ तक उचित है? श्लील और अश्लील की परिभाषा क्या, मर्यादा क्या?"

इसके उत्तर-क्रम में उन्होंने जो संदर्भ लिखा है, उसका एक अंश इस प्रकार है,—

"श्लील और अश्लील देश-काल पर आश्रित हैं। उनकी कोई परिभाषा न केवल शाश्वत ही नहीं हो सकती, वरन् आत्यंतिक भी नहीं हो सकती। श्लील और अश्लील केवल समय (कनवेंशन) हैं; जो हर समाज और सामाजिक स्थिति के अपने अलग-अलग होते हैं।"[17]

इसके अतिरिक्त अन्य प्रश्नों के उत्तर के क्रम में उन्होंने जो कुछ लिखा, उससे कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत प्रबंध के अनुकूल हैं,—

"यहाँ उल्लेख्य है कि जहाँ श्लील-अश्लील के बारे में कभी नीतिवादियों में भी एकमत नहीं हो सका, वहाँ इसी प्रश्न के साहित्यिक प्रतिरूप के बारे में साहित्य-स्रष्टा प्रायः एकमत रहे हैं।"[18]

"बड़े-बड़े नीतिध्वजी बकवास लिख गए, कभी कोई आवारा भी बड़ी चीज लिख गया।"[19]

"···उदाहरण भर दे सकता हूँ : 'नदी के द्वीप' में अश्लीलता किसी वर्णन में नहीं मानता।···[20]

"शर्म आँखों की होती हैं, तो उधड़ापन भी आँखों में होता है। अगर लेखक की दृष्टि अधूरी, उधड़ी (अतएव असाहित्यिक) थी तो अश्लीलता वहीं है और उससे उत्पन्न लेखन में भी; अगर पाठक की दृष्टि वैसी है तो वहाँ।"[21]

इस प्रकार अज्ञेयजी ने भी अश्लीलता के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टि से विचार करते हुए सापेक्षता को महत्वपूर्ण माना है। निरपेक्षत: अपने में कोई कृति श्लीलाश्लीलापेत होती है।

अँगरेजी में अश्लीलता पर जिन अनेक लेखकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है, उनमें डी० एच० लौरेंस का नाम अग्रपांक्तेय है। उन्होंने अनेक स्तरों से मूल्य, परम्परा, मान और स्थापनाओं का निर्मम भंजन किया है। प्रेम तथा काम-सम्बन्धी अपने क्रांतिकारी विचार तथा साहित्य में उनके निर्भीक निक्षेपण के कारण लौरेन्स को 'प्राफेट' की आख्या दी गई।

लौरेंस की दृष्टि में अश्लीलता की अर्थ-व्याप्ति में परिवर्तन होता रहा है। मनुष्य स्वयं परिवर्तनशील प्राणी है।

"शब्द 'ऑबसीन' के साथ भी यही बात है। किसी को इसका अर्थ ज्ञात नहीं है? मान लीजिए, यह 'आबसीना' शब्द से बना है और इसका आशय ऐसी वस्तु से है जो रंगमंच पर नहीं प्रदर्शित की जा सकती, तब तो आप वास्तविक अर्थ से बहुत दूर हैं। फिर, एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिए अश्लील है तो दूसरे के लिए श्लील। ऐसी अवस्था में इसका निर्णय बहुमत द्वारा ही किया जा सकता है।"

अँगरेजी विश्वकोश के अनुसार लिखित, मूर्त, चित्रात्मक अथवा प्रदर्शनात्मक दुराचरण जो अभियोगात्मक हों, वे अश्लील हैं,—

"By English common law it is an indictable misdemeanour to give an obscene exhibition or to publish any obscene matter, whether it be in writing or by pictures, effigy or otherwise.[23]

१८५७ ई० में Obscene Publication Act बना, जिसके अंतर्गत सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह ऐसे स्थलों की खोज कर सकती है

या वहाँ छापा मार सकती है, जहाँ अश्लील पुस्तकें विक्रय या वितरण के लिए एकत्र हों। सरकार को यह भी आदेश और अधिकार प्रदत्त किया गया कि वह उनका विनाश कर सके। डाक घरों के अधिकारियों को यह अधिकार दिया गया कि पत्रालय में आये पोस्टल पैकेट को वे तोड़ सकें, जिसमें इस प्रकार की अश्लील सामग्री हो। Post office Act के अन्तर्गत सामान भेजनेवालों पर मुकदमा भी चलाने का अधिकार दिया गया। फिर सामान्य स्थान पर जनसाधारण के मध्य अश्लील-अभद्र भाषा का प्रयोग अश्लीलता-नियम के अन्तर्गत दंडनीय माना गया। अश्लील भाषा-प्रयोग को १८३९ ई० के The Metropolitan Police Act तथा १८४७ ई० के The Town Police Clauses Act के अनुसार भी दंडनीय अपराधाचरण माना गया। १८८९ ई० में Indecent Advertisement Act के अनुसार अश्लील चित्र, मुद्रण अथवा अन्य अश्लील समाग्री का जनता के मध्य किसी जनवीथि में प्रदर्शन करने के विरुद्ध अभियोग का आदेश दिया गया।

कोई लिखित, भाषित या प्रदर्शित सामग्री अश्लील है, इसका निर्णय कौन करेगा ? किसी नाट्य दृश्य को यदि पंचानवे व्यक्तियों ने श्लील या भद्र और पांच व्यक्तियों ने अश्लील या अभद्र मान लिया तो क्या यह अश्लील हो जाएगा ? अँगरेजी नाटक हैमलेट के प्रदर्शन पर क्रौंवेलियन पवित्रतावादी व्यक्तियों (Cromwellian Puritans) को आघात लगा था और आज यह सबों को सहज स्वीकरणीय है। इसी प्रकार Aristophanes की कुछ कृतियों से आज सबों को अश्लीलता-जन्य आघात लगता है, पर ग्रीक-वासियों की दृष्टि में ऐसी बात नहीं थी। अतः अश्लीलता की कल्पना वैयक्तिक तथा दिक्काल-सापेक्ष होती है।

ब्रिटेन के संविधान के अनुसार मस्तिष्क पर अनैतिक तथा दूषित प्रभाव डालनेवाले उपकरण अश्लील हैं, जबकि अमेरिकी संविधान के अनुसार कामोत्तेजक उपकरण अश्लील हैं। १९३० ई० के The Traffic Act के अनुसार अमेरिकी कानून अश्लील पुस्तकों के आयात पर प्रतिबंध लगा सकता है। संविधान की शब्दावली में अश्लील की परिभाषा है,—

"Tending to stir the sex impulses or to lead to sexually impure thoughts."

अमेरिका के एक न्यायालय के निष्कर्ष में १९३३ ई० में न्यायाधीश John M. Woolsey द्वारा James Joyce के श्रेण्य साहित्य Ulysses से प्रतिबंध (Ban) हटा लिया गया।

'अश्लीलता' के साथ 'कामोद्दीपकता' भी अनेकत्र संपृक्त है। इस दृष्टि से संस्कृत के शास्त्रग्रंथों में वर्णित 'काम' अश्लील मान लिया जाएगा, जबकि इसके विपरीत काम को शास्त्र मानकर ही कामशास्त्र की रचनाएँ हुईं। काम कला भी है। इसीलिए काम-कला का प्रचुर वर्णन हुआ। काम पुरुषार्थ-चतुष्टय (अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष के अन्तर्गत है। काम देव है। इसीलिए कामदेव की कल्पना की गई। कामदेव की पत्नी का नाम 'रति' है, जो शृंगार का स्थायी भाव है। शृंगार को साहित्य में रसराज माना गया है। समस्त साहित्य से सौन्दर्य और शृंगार अथवा Esthetics और Eroticism को बहिष्कृत कर दिया जाय तो शेष की शुष्कता की कल्पना ही की जा सकती है।

खजुराहो और कोणार्क की काम-मूर्तियाँ, अजंता-एलोरा के प्रस्तरोत्कीर्ण काम-चित्र तथा रंगों और रेखाओं के कामांकन इत्यादि 'काम' के अन्तर्गत हैं। उपरिलिखित संविधान के आधार पर यह सब अश्लील होना चाहिए था। यही क्यों, वेदों और उपनिषदों का काम-वर्णन तथा कामांग-वर्णन अश्लील होना चाहिए था, किन्तु वेद और उपनिषद् पूज्य ग्रंथ हैं। वहाँ अश्लीलता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अश्लीलता नग्नता भी नहीं है। अन्यथा दिगंबर जैन पूज्य और समादरणीय के स्थान पर दंडनीय समझे जाते। और जहाँ तक कामोद्दीपन का प्रश्न है, अनेक स्थलों पर यह उचित, आवश्यक तथा कला के अन्तर्गत माना गया है, जैसे पत्नी की निर्वस्त्रता तथा कामोद्दीपन। काम-कला के इन उद्दीपन-गुणों से वंचित रमणी पत्नीत्व की पूर्ण व्याप्ति नहीं रखती, ऐसा माना जाता है।

समासतः किसी भी अभिव्यक्ति के भीतर यदि उद्देश्य महत्, स्वस्थ तथा सौन्दर्यात्मक है तो वह अश्लील नहीं है। साहित्य-शास्त्रों में दोषों के अन्तर्गत मम्मट, राजशेखर इत्यादि आचार्यों ने 'अश्लीलता' का उल्लेख किया है, किन्तु वहाँ भी कामोद्दीपन, काम-कला, निर्वसनता, यौन-वर्णन इत्यादि अश्लीलता के अन्तर्गत नहीं हैं। यायावरीय राजशेखर के अनुसार साहित्य में तथाकथित अश्लीलता का स्थान नहीं है। आवश्यकतानुसार ऐसे वर्णन स्वीकरणीय हैं। उन्होंने यजुर्वेद के एक उदाहरण से इस आशय को स्पष्ट किया है,—

"प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः" इति यायावरीय तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते। तत्र याजुष—

"योनिरुदूखलं शिश्नं मुशलं मिथुनमे तत् प्रजननन्ते क्रियते।"

अतः अश्लीलता एक सापेक्ष शब्द है। इसका अर्थ व्याख्याता, स्थान और समय के अनुसार बदलता चला है।

साहित्य में ग्राम्यता और गंदापन का बहिष्करण अवश्य होना चाहिए। अश्लीलता का प्रश्न साहित्य में नहीं उठता। इस आधार पर साहित्य के दंडक न्यायपालिका के दंडक से पृथक् नीति रखते हैं।

---

१. दृष्टिकोण : नलिन विलोचन शर्मा : द्वितीय संस्करण : पृ. ४.

२. Oscar wilde : The picture of Dorian gra y : The preface.

3. D. H. Lawrence : Selected literary Criticism : P. 35

४. उपरिवत् : पृ० ३६

५. उपरिवत् : पृ० ३७

६. उपरिवत् : पृ० ३७

6. Aldous Huxley : Antic Hay.

7. Osear wilde : The picture of Dorian Gray ; the preface.

९ दृष्टिकोण : नलिन विलोचन शर्मा : (द्वितीय संस्करण) पृ० ३

१०. उपरिवत् : पृ० ४

११. उपरिवत् : पृ० ४-५

१२. उपरिवत् : पृ० ४-५

१३. ज्ञानोदय : प्रणय-अंक-परिशिष्टांक : नवंबर १९५८ ; पृ० ३८

१४. Alec Craig : The Banned Books of England.

१५. ज्ञानोदय : प्रणय-अंक-परिशिष्टांक : नवंबर १९५८ ; पृ० ३९

१६. उपरिवत् : पृ० ३९

१७. ज्ञानोदय : प्रणय-अंक : अक्तूबर १९५८ ; पृ० १०

१८. उपरिवत् : पृ० १०

१९. उपरिवत् : पृ० १२

२०. उपरिवत् : पृ० ११

२१. उपरिवत् : पृ० १२

२२. D. H. Lawrence : Setected literary Criticism.

23. Encyclopaedia Britannica : 1960 impression, Volume 16, P. 671.

नवगीत

छायावादोत्तर हिन्दी-कविता के बत्तीस वर्ष लगभग चालीस लघु-गुरु काव्यांदोलनों का काल-प्रसार है। इसे संक्रांति की स्थिति भी कह सकते हैं। कविता अपनी अभिव्यक्ति के लिए नवीन आयामों का अन्वेषण कर रही है। यह अस्वस्थ लक्षण नहीं कहा जा सकता। कविता के कथ्य और कथन के शिल्प दोनों में परिवर्तन हुए हैं। कविता की सांप्रतिक, आधुनिक, तात्कालिक, वर्तमान या अधुनातन धारा ने यह सिद्ध कर दिया है कि कविता के लिए शास्त्रोपस्कृत कोई भी प्रतिमान अस्वीकार करके भी 'कविता' हो सकती है।

हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओं में 'नव' विशेषण का योग व्यापक रूप से हुआ है, जैसे—नई कहानी, नई कविता, नई आलोचना इत्यादि। इसी तरह 'नवगीत' का संघटन-संवर्तन हुआ। अभी साहित्य की तात्कालिक चेतना 'अ' की है—अकविता, अनाटक, अकला, अविधा, अकहानी इत्यादि। इस पद्धति पर 'अगीत' का आन्दोलन अभी तक नहीं हुआ है। बहुत दिन पहले 'गीत-अगीत कौन सुन्दर है' जैसी पंक्ति अवश्य लिखी गई थी, किन्तु वहाँ 'अगीत' शब्द-व्यवहार में वादांकित काव्यांदोलन का कोई प्रयत्न नहीं था। पत्रिका-रूप में अगीत का स्वर भी भास्वर हुआ।

नवगीत का 'नव' नव्यता-बोधक विशेषण अवश्य है, किंतु 'गीत' से समस्त होने पर अब यह कर्मधारय से अधिक बहुव्रीहि समास हो गया है। 'छोटी कहानी' में 'छोटी' विशेषण केवल लघुत्व का पर्याय नहीं रह गया। यह एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका शिल्पाश्रित बृहत्तर अर्थव्याप्ति के आधार पर अर्थान्विति की जाती है। इसी प्रकार 'नवगीत' का 'नव' अब 'छोटी कहानी' की तरह पारिभाषिक शब्द हो गया है, जिसका अर्थ नव्यता-बोधक गीत भर नहीं हो सकता। छोटी कहानी अँगरेजी की Short Story की तर्ज पर हिन्दीकरण है। नवगीत किसी New-Lyrics या Neo-Lyrics का हिंदीकरण नहीं है। यह हिंदी का स्वतंत्र विकास है। संभवतः इसीलिए

इसके भाष्य में विकल्प, विवाद, अनैक मत्य तथा संघर्ष है। ये मौलिक उद्-भावना के अनिवार्य आसंग हैं।

नवगीत के सम्बन्ध में तीन प्रयत्न संचिकायत्त हैं। प्रथम : १९६६ ई० में पटना में सम्पन्न नवगीत-संगोष्ठी, द्वितीय : डॉ० शंभुनाथ सिंह द्वारा लिखित 'नयी कविता और नवगीत' शीर्षक बृहत् निबंध जो १९६६ ई० में ही प्रकाशित उनकी पुस्तक "प्रयोगवाद और नयी कविता" में संकलित है। तृतीय : १९६७ ई० के नवंबर में वाराणसी में आयोजित नवगीत-गोष्ठी।

इन तीनों धरातलों पर तीन दृष्टियों से विचार हुआ है। पटना-गोष्ठी में मुख्य रूप से 'नवगीत के प्रवर्तक' 'नवगीत के कवि' 'नवगीत के सिद्धान्त,' 'नवगीत की स्वीकृति-अस्वीकृति' इत्यादि विषयों पर विचार हुआ, जिसका कोई प्रतिवेदन अथवा परिचर्चा तत्काल प्रकाशित नहीं हुई। बाद में १९६८ में गोपीवल्लभ सहाय के संपादन में रश्मि (पटना) का नवगीत-अंक छपा। वाराणसी-गोष्ठी में भी प्रायः पटना-संगोष्ठी की भाँति ही विचार किया गया, किन्तु विशेष बल नवगीत को कविता-स्तर पर स्वीकृति-अस्वीकृति के लिए ही दिया गया। डॉ० शंभुनाथ सिंह के निबन्ध में नवगीत के इतिहास पर विशेष चिंतन-अनुचिंतन किया गया है। इस निबन्ध में गीतकारों को कोटीकृत कर नवगीत के अन्तर्गत पुनर्व्यवस्थापन का कृच्छ्र प्रयत्न भी किया गया है, जिसमें पुनर्विचार की गुंजाइश अनेकत्र है। ये तीनों (दो मौखिक, एक लिखित) नवगीत पर भाष्य उपस्थित करने के प्राग्र प्रयत्न हैं।

इनके अतिरिक्त नवगीत पर जो भी विचार हुआ है, वह आनुषंगिक रूप में। अभी नवगीत के सिद्धान्त-विनियोग, भाष्य, प्रक्रिया, गीतांतर-निश्चयन, इतिहास, नवगीतकार-नामांकन इत्यादि पर आलोचनात्मक चिंतन अपेक्षित है।

'नवगीत' को अभी अपेक्षा, विरोध और भ्रांति का सामना करना पड़ रहा है। प्रत्येक नई धारा की एतादृश प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी है।

मैं सिद्धान्तरूप में 'नवगीत' के 'नव' को केवल नव्यता-बोधक प्रतिशब्द स्वीकार नहीं कर पा रहा हूँ। 'नवगीत' 'नया गीत' भर नहीं है। यह एक पारिभाषिक समस्तपद है, जिसका अर्थ निरुक्ति से ही निष्पादित नहीं हो सकता।

नवगीत को गीत से पृथक्कृत करने के पूर्व गीत पर विचार आवश्यक है। गीत या नवगीत कविता की एक शैली है, इसे स्वीकार कर लेने में मुझे कोई विकल्प नहीं है।

'कविता' महत्तर अर्थ व्याप्तिपूर्ण शब्द है, 'गीत' एक शैली-विशेष से आश्रित काव्याभिव्यक्ति-पद्धति। गीत को अँगरेजी में 'Lyric' या उर्दू में 'नग्मा' जिन कारणों से कहा जाता है, उस आधार पर गीत की सीमा का निर्धारण करते हुए गीत के लिए अनिवार्य तत्त्वों में आत्मगतत्व (Subjectivity), प्रगीतात्मकता (Lyricism), स्वच्छंदतावाद (Romaticism), गेय तत्त्व (Rythm), रागात्मकता (Love- element) इत्यादि हैं।

श्रेण्यता (Classicism) का विलोम प्रगीतवाद (Lyricism) है। अँगरेजी में Classicism Vrs. Romanticism का उल्लेख किया जाता है। इस आधार पर Romanticism और Lyricism प्रायः पर्याय हुए। अर्थात् Lyricism में Ramanticism Vrs. Gothic की चर्चा होती रही है। फ्रेंच में Francois Mignet ने १८२२ ई० में Romantisme का प्रयोग किया है। १९११ ई० में Coleridge ने पहली बार classical-romantic का अंतर किया। Romanticism सामासिक रूप से Europeam movement है। Lovejoy ने Romantic के अन्तर्गत Organicism, dynamism and diversitarianism के समन्वय का उल्लेख किया है। ReneWellek ने अपनी पुस्तक "Concepts of Criticism" में दो अनुच्छेद—शीर्षक (१) The concepts of Romanticism in Literary History तथा (२) Romanticism Re-examined में विस्तार से विचार किया है।

भारतीय साहित्य में विशेष-कर संस्कृत में 'गीत' का भूयिष्ठ उल्लेख है। सामवेद गीतिवेद है। संस्कृत में गीतगोविंद, पालि में चर्यागीत, हिन्दी में विद्यापति, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, मीरा, महादेवी, पंत, प्रसाद निराला इत्यादि के गीत प्रमुख हैं।

गीत में गान-तत्त्व अनिवार्य है—'गीतं शब्दितगानयोः (हेमचन्द्र) अथवा 'गीतं गानमिमे समे' (अमरकोश)। गान-तत्त्व में लय (Rhythm) आवश्यक है। यह लय ही अपनी सांगीतिकता के कारण गीत का समुद्धारक तत्त्व रहा है। संगीत में गान को वाद्य से सहायता दी जाती है। गीत में यह सहायता लयात्मकता से प्राप्त की जाती है। 'कविता' में इस प्रकार की किसी इतर सहायक तत्त्व की अनिवार्यता नहीं रह जाती। इसी आधार पर कविता को जहाँ शुद्ध 'काव्य' की आख्या दी जाती है, वहाँ गीत को संगीत-मिश्रित होने के कारण कविता से नीचे ही स्थान दिया जाता है। सद्यः प्रभावोत्पादन के

आधार पर गीत कविता से अधिक संवेद्य सिद्ध हो चुका है। संस्कृत की एक सूक्ति इसी प्रभावान्विति को स्पष्ट करती है—"काव्येन हन्यते शास्त्रं, काव्यं गीतेन हन्यते, गीतं नारी-विलासेन, क्षुधया सोऽपि हन्यते।"

शास्त्र काव्य से पराजित हो जाता है। काव्य गीत से पराजित हो जाता है। गीत नारी-विलास से और पुनः नारी-विलास क्षुधा से पराजित हो जाता है। अर्थात् सद्यः प्रभावोत्पादकता की पृष्ठभूमि पर गीत कविता से बाजी मार ले जाता है।

आज की कविता ने काव्यशास्त्र-सम्मत प्रतिमान—रस, छंद, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, अलंकार, औचित्य, लय, इत्यादि सबों को अस्वीकार कर दिया है। इन सबों के बिना भी कविता 'कविता' है, यह एक विशेष बात है। यहाँ यह शंका उठाई जाती रही है कि काव्य के अनिवार्य परम्परीण तत्त्वों के अभाव में कविता क्या गद्य नहीं रह जाती है। इसके स्पष्टीकरण में Patric Dickinson के दृष्टांत विनोयोग का आश्रय लेकर यों कहा जा सकता है कि गद्य और कविता के शब्दों की शक्ति में अन्तर होता है। कोई पारदर्शी दो चषक लिए जाएँ। एक में जिन (शराब) का चषक के चतुर्थांश रखकर तीन चौथाई भाग पानी से भर दिया जाए। दूसरे चषक में केवल जिन रखी जाए। जिन शराब का रंग जलवत् निरंग होता है। अब यदि जलयुक्त चषक को पिया जाए तो नशा धीरे-धीरे होता है। कोई कड़वाहट नहीं लगती, किन्तु यदि केवल जिन-भरे चषक को पिया जाए तो एक झटका लगेगा, एक शौक (Shock) लगेगा। गद्य और कविता में यही अन्तर है। गद्य में प्रयुक्त शब्द अपनी समस्त शक्ति एवं अर्थव्याप्ति के साथ नहीं रहते, जबकि कविता में प्रयुक्त शब्द अपनी समस्त शक्ति एवं अर्थवत्ता के साथ विराजमान रहते हैं।—

"Poetry uses words at their strongest." प्रपद्य-तंत्रित सिद्धांत में यही—"प्रपद्यवाद मानता है कि पद्य में उत्कृष्ट केन्द्रण (Dichten-Condensare) होता है, और यही गद्य और पद्य में अन्तर है।"

आज की कविता में शब्द अपनी सर्वशक्तिमत्ता के साथ व्यवहृत होते हैं। यही कविता की आधुनिक महत्तम विशेषता है। इस प्रतिमान पर गीत में शब्द अपनी ऐकिकता की व्याप्ति एवं शक्ति के साथ प्रयुक्त नहीं होते। उसमें अवली (पदावली) अथवा सामासिकता अथवा सान्निध्य-सापेक्षता की अनिवार्यता है। कहीं-कहीं पादपूर्ति के जलमिश्रित अशक्त शब्द भी गीत में प्रयुक्त होते रहे हैं। 'नवगीत' इस मोह से बहुत मुक्त है, तथापि कविता से शब्द के Neatness या all strength के साथ प्रयोग में पीछे है।

'नवगीत' को 'कविता' का पर्याय मानना बेमानी है। नवगीत की प्राथमिक विशेषता शास्त्रीयता है। छायावादी गीत धीरे-धीरे शास्त्रीयता तक पहुँचने लगा था। छायावादोत्तर काल में भी छायावादी संस्कार के गीत लिखे जाते थे, अब भी लिखे जाते हैं। नवगीत ने इस दिनातीत संस्कार को उतार फेंकने का शोभन प्रयत्न किया है। गीत एक काव्य-विधा है, जिसमें कविता भी लिखी जा सकती है। यहाँ 'कविता' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में है। छायावादी गीत में शिल्प एवं अभिव्यंग्य का महत्त्व था। छायावादोत्तर गीतों में 'अभिव्यंग्य' यद्यपि आधुनिकता-सापेक्ष हो गया, किन्तु उसकी शास्त्रीयता यथावत् बनी थी। नवगीत ने इसके विरुद्ध आंदोलन किया।

नवगीत ने लोकचेतनान्विति को अधिक महत्त्व दिया है। इस प्रक्रिया में शब्द-प्रयोग एवं भावांकन दोनों धरातलों पर क्रांतिपूर्ण प्रयोग हुए हैं। इस उपक्रम में 'नवगीत' 'शास्त्रीय गीत' से उतर कर लोकगीत के समीप आ गया है।

'नवगीत' ने शास्त्रीय गीत एवं लोकगीत के मध्यवर्ती होने का कार्य किया है।

आज की कविता में Romanticism, Emotionalism तथा sentimentalism को अस्वीकार कर, Rationalism (बुद्धिवाद) को स्थापित-संघटित किया गया है। नवगीत भी इस Impact (संघटन) से उपयुक्तत: प्रभावित हुआ है। इस Rationalism के कारण Romanticism को धक्का लगा है। आज के नवगीत में परम्परीण Romantic elements नहीं होते। आज की कविता ने जिस प्रकार स्पष्टतः घोषित कर दिया है कि वह Anti-romantic है, उसी प्रकार नवगीत की ओर से ऐसी स्पष्ट या अस्पष्ट कोई घोषणा नहीं है। और यह जरा आश्चर्य-जनक भी प्रतीत होता है कि बिना रागात्मकता तथा Romanticim के भी गीत की रचना हो सकती है। आधुनिक दृष्टिबोध के आधार पर Romanticism की परिभाषा भी नवगीत ने परिवर्तित कर ली है। और नवगीत में कहीं Romanticism है भो तो Neo-Romanticism की भावभूमि के साथ।

नवगीत में लय-तत्त्व का महत्त्व अब भी है। यद्यपि कुछ ऐसे नवगीत भी लिखे गए हैं, जिनमें लयात्मकता का अभाव है, और इस अभाव के बावजूद वह नवगीत बना रह सका है।

नवगीत में सस्ती भावुकता को अपदस्थ कर व्यापक मानव-बोध को स्थापित किया गया है। बिषय की दृष्टि से नवगीत और नई कविता में अंतर नहीं है। यह अन्तर अभिव्यक्ति के धरातल पर ही स्वीकृत है।

यह कहा जाता है कि आधुनिक अनुभूति-तन्त्र को गीत के माध्यम से अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती। इस स्थापना को नवगीत ने मिथ्या प्रमाणित किया है।

नवगीत में रागेतर भावों को भी सफलता-पूर्वक अभिव्यक्त किया गया है। रहस्यात्मकता के तत्व को भी नवगीत ने अस्वीकार किया है। इसके अपवाद पर भी विचार किया जा सकता है।

नवगीत के इतिहास को मुख्यतः दो काल में बाँटा जा सकता है। १९३१ से १९५० तक और १९५० के बाद। १९३६ ई० में निराला की गीतिका का प्रकाशन हुआ। इसमें 'वर दे वीणावादिनि वरदे !' शीर्षक गीत प्रथमस्थ है। इस गीत की रचना १९३१ ई० में हो चुकी थी। इसमें निराला ने नव्यता की प्रत्येक आकांक्षा की थी—

"नव गति नव लय ताल छंद नव
नवल कंठ, नव जलद मंद्र रव
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव स्वर नव पर दे।"

इन पंक्तियों के माध्यम से निराला ने गीत में नव्यता भरने का प्राथमिक प्रयत्न किया था।

बाद में बच्चन, नरेंद्रशर्मा, अंचल, नेपाली इत्यादि कवियों ने छायावाद-संस्कार-ग्रस्त गीतों के विरुद्ध पृष्ठभूमि उपस्थित की। त्रिलोचन शास्त्री, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, हंसकुमार तिवारी इत्यादि कवियों ने इस पृष्ठभूमि को और सम्मार्जित किया। इनके साथ अन्य अनेक कवि भी थे। १९५० ई० तक की अवधि को छायावादोत्तर गीत-काल या नवगीत की पूर्वपीठिका का काल कहा जा सकता है।

नवगीत के कवियों की सूची उपस्थित कर पाना कठिन है, तथापि कुछ नाम उल्लेख्य हैं,—रामनरेश पाठक, गुलाब खंडेलवाल, शंभुनाथ सिंह, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, गोपीवल्लभ, चन्द्रमौलि उपाध्याय, मणि मधुकर, सत्यनारायण, शान्ता सिन्हा, राजेंद्र किशोर, श्यामसुंदर घोष, मैथिलीवल्लभ परिमल, ठाकुर प्रसाद सिंह, रवींद्र भ्रमर, लालधुआँ इत्यादि कुछ नाम अचानक उदाहरणीय हैं।

'नवगीत' हिन्दी की दिनातीत गीत-विधा का पुनर्नवीकरण है, जो आधुनिक दृष्टिबोध से संवलित होने के कारण वर्तमान टूटन, विकेन्द्रण, विखंडन एवं विषाद का भी सफलता-पूर्वक प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दी में नवगीत के भाष्य की अपेक्षा है। यह काव्यांदोलन किसी भी दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है।

पगद्य

डॉ० श्रीनिवास ने अपने काव्याभिव्यंजन के लिए स्वीकृत सूत्रों को अस्वीकृत कर 'पगद्य'[1] की भूमिपीठ तैयार की है और उसके माध्यम से युगचेतना की चारुता-अचारुता को उपनिबद्ध किया है तो कविता के परंपरीण पाटकों का रोध-विरोध अस्वाभाविक नहीं है। आलोचकों और पाठकों की ओर से कई किस्म की नामंजूरियाँ और रंजो-गम[2] सामने आए हैं, जिनमें कुछ यह कि 'पगद्य नाम बलात् निर्मित है, 'चंपू' के होते 'पगद्य' की आवश्यकता ही क्या थी, पगद्य भी यदि कविता है तो पृथक् काव्यांदोलन की क्या आवश्यकता थी, इत्यादि। इन आपत्तियों के आसंग में पगद्य-पर्यालोचन के पूर्व 'पगद्य' का भाष्य संभवतः अपेक्षित होगा। इस संबंध में अपनी एक टिप्पणी का अंश उद्धृत करना चाहूँगा,—

'पगद्य पद्य और गद्य का मिश्रप (कॉकटेल) है—पद्य + गद्य = (प + ग) द्य = पगद्य। किंतु यह मिश्रण प्राचीन 'चंपू' (गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते) नहीं है। यह अर्वाचीन 'प्रपद्य' भी नहीं है। प्रपद्य को गद्य-पद्यात्मक मानने की गलती से लेकर (Proem) तक का रूपांतर माना गया।··· और यह 'पगद्य'? यह न चंपू है, न प्रपद्य, न गद्यगीत, न कवित्वमय गद्य। बल्कि पगद्य की ध्वनि—आधुनिक युग को काव्य-रचना और काव्यांदोलनों के बावजूद जिन अर्थों में अव्याप्ति दोषात् 'गद्यकाल' कहा जाता है, उसी संदर्भ में वृहत्तर सार्थकता के लिए प्रयुक्त नाम है।'[3]

जिस गद्य और पद्य के समीकरण का संघटन 'पगद्य' में घोषित है, उस गद्य और पद्य की परस्परापेक्षता तथा अधिमिश्रण का विश्लेषण आवश्यक है। यह इतिहास-सम्मत अभिमत है कि संसार की सभी भाषाओं में पद्यरचना पहले हुई और गद्यावतरण बहुत बाद में हुआ। हजार वर्षों के हिंदी-साहित्येतिहास में गद्य का विधिवत् इतिहास सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। इसी गद्यागमन के कारण आधुनिक काल (हिंदी) को 'गद्यकाल'[4] कहा गया।

आधुनिक काल में गद्य-रचना के समानांतर पद्य रचना भी होती ही है। अतः इसे केवल 'गद्यकाल' कहना उचित नहीं। किंतु इस नामकरण में उचित सार्थकता का अनुसंधान भी किया गया,—

'आधुनिक काल को गद्यकाल कहना केवल इसीलिए सार्थक नहीं है कि इसी काल में गद्य के अनेकविध नये स्वरूपों ने श्रेष्ठता प्राप्त की, बल्कि इसलिए भी कि इसी काल में कविता भी गद्य के निकट आयी।'[5]

संस्कृत में गद्य और पद्य दोनों को काव्य के अंतर्गत व्यवस्थित किया गया है। संस्कृत-परंपरा के अनुसार महान् कवि के लिए गद्यकारिता आवश्यक अभिसंधि मानी गई,—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।'[6] बाणभट्ट को महाकवि माना गया है तो इसी गद्य-गरिमा पर। शास्त्रकार के अनुसार गद्य को 'वृत्तानुगंधी' अर्थात् काव्यरस-पूर्ण होना चाहिए। पाश्चात्य साहित्य में गद्य और पद्य की ऐकिकता तथा एकात्मिकता नहीं मिलती।[7] प्रेसकॉट, जॉन्सन, अरस्तू, वर्ड्सवर्थ, स्पेंडर, सर पो० हार्रोट कॉलरिज, पैट्रिक डिकिंसन इत्यादि चिंतकों ने गद्य और पद्य का अंतर और प्रार्थक्य विवेचित किया है। वामन की तरह केवल टी० एस० एलिएट यह मानते हैं कि कविता को गद्य से बहुत-कुछ सीखना है।[8] किंतु सामासिक रूप से पाश्चात्य साहित्यकारों की दृष्टि में गद्य और पद्य में असमापिका पृथक्ता है। जे-आइजाक ने इस विचार-संपदा का समाहार करते हुए लिखा है, "गद्य और पद्य का अंतर पार्थक्य-पूर्वक सदैव बना रहा है। इस पार्थक्य की सुरक्षा के लिए कविता को प्रयत्नशील भी रहना पड़ा है।[9]" भारतीय साहित्य-परंपरा में गद्य और पद्य का परस्पराश्रयण प्रसिद्ध रहा है। गद्य को काव्यत्व नहीं दिया जाता तो हर्ष और बाणभट्ट को महाकवि की आख्या भी नहीं मिलती। पंडित विश्वनाथ ने गद्य को काव्य मानते हुए 'गद्यकाव्य' की परिभाषा में वृत्तगन्धिता का उल्लेख किया है।[10] अँगरेजी की परंपरा भिन्न है। काव्य में गद्य-तत्त्व के कारण उसे Prosaic माना जाता है तो गद्य में काव्य-तत्त्व के कारण उसे Prose-poem कहा जाता है। अँगरेजी-प्रभाव-पीठिका पर 'गद्यगीत की स्वीकृति आधुनिक ही है।

'पगद्य' पद्य और गद्य को किस रूप में स्वीकार करता है, यह विचारणीय है। डॉ० श्रीनिवास की कविताओं (पगद्य) का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष स्पष्ट होता है कि पगद्य के प्रस्तोता ने पश्चिमी पृथक्ता को नहीं, वरन् संस्कृत समीकरण को स्वीकार किया है। 'पगद्य' चंपू इसलिए नहीं है कि इसमें चंपू की तरह गद्य और पद्य की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। चंपू में गद्य और पद्य

एकत्र होकर भी तिलतंडुलवत् बने रहते हैं। पगद्य में जहाँ गद्य है, वह काव्य-तंत्रित और जहाँ पद्य है, वह गद्य-वितर्कित। दोनों परस्पर पूरकता के साथ एक तृतीयपद-प्रधान विधा को उद्भावित करते हैं। संश्लेषधर्मिता और विश्लेषण-वृत्ति जहाँ एकृत हो जाती है, वहाँ से पगद्य का आरंभ होता है।

चंपू-परंपरा की रचना यशस्तिलकचम्पू,[11] चित्राधार[12] यशोधरा[13] और पगद्य की रचना —पतियां[14] दिव्यप्रभात[15] 'रूद्रजी' (रामगोपाल)[16] की तुलना से यह सहज स्पष्ट है कि 'चंपू' विधा के होते 'पगद्य' की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

'पगद्य' नाम-सर्जन के संबंध में आपत्तियाँ हैं। जिनके दिभाग में Brunch [Breakfast + Lunch], Rotel [Roming Hotel], धूलप (धूल + धूप) चित्रेतना (चित्र + चेतना) इत्यादि शब्द आज भी उतर-बैठ नहीं रहे हैं, उन्हें 'पगद्य' पर आक्रोश है, यह शुभ है। उन्हें आपत्तियाँ नहीं होना ही 'पगद्य' की विफलता होती।

जहाँ तक काव्यांदोलन का प्रश्न है, 'पगद्य' कोई काव्यांदोलन नहीं है। पगद्य का कोई घोषणा-पत्र नहीं छपा है। पगद्य के साथ डॉ० श्रीनिवास के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति कृती साथ नहीं। नकेन-कक्ष में भी कम-से-कम तीन कवि साथ थे। पगद्य विधा का आविष्कार एक ने एकाकी अपनी अभिव्यक्ति की सहूलियत के लिए किया है।

'पगद्य' आकारतः जिस प्रकार गद्य और पद्य का मिश्रण है, उसी प्रकार तत्त्वतः साहित्य और विज्ञान का संगम है। पगद्य 'गंगा (गद्य) और 'यमुना' (पद्य) के बीच से 'सरस्वती' का अवतरण[17] है। केदारनाथ मिश्र प्रभात ने पगद्य पर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की और इस विधा को स्वीकार करते हुए लिखा,—

"भाषा पर जिसका असाधारण अधिकार हो और शब्दों को नया-नया अर्थ देने में समर्थ हो वही व्यक्ति ऐसी कठिन विधा लेकर चल सकता है। पद्य और गद्य एक साथ। पद्य तो पद्य है ही। गद्य भी पढ़ने के पद्य जैसा ही लगे। रस-सिद्ध साहित्यकार की लेखनी ही ऐसी विलक्षणता उत्पन्न कर सकती है।

'पगद्य के प्रक्रम में 'प्रपद्य' का उल्लेख हुआ। यह उल्लेख मानी-बेमानी दोनों है। पगद्य कोई अनुकरण नहीं, जैसा सभ्रम कुछ संभ्रम लेखकों ने भी मान

लिया है। [19] अनुकृति अनुकृत से उत्कृष्टतर नहीं होती। पगद्यकार को अपनी मौलिकता का अभिज्ञान है। पगद्यकार के पगद्य में समालोचकों ने भी मौलिकता का अनुसंधान किया है। प्रपद्य-परंपरा का जहाँ-जहाँ पगद्य-क्रम में उल्लेख हुआ है, वहाँ केवल शब्द-निर्माण तक ही बात सीमित रही है। इस क्रम में श्रीरंजन-सूरिदेव ने 'इतरेतर'-समीक्षा करते हुए लिखा,—

"आचार्य नलिन जी की प्रपद्यवादी-धूलप-परंपरा में डॉ० श्रीनिवास के 'पगद्य' की 'इतरेतर' द्वारा की गई चर्चा की अर्चा आनेवाले वर्तमान के हाथ में है।"[20]

दूसरा उल्लेख 'इतरेतर' में है। [21] शब्द-निर्माण-परंपरा में 'पगद्य' 'प्रपद्य' का अनुवर्तन अवश्य करता है, किंतु अभिव्यंजना-कौशल और अभिव्यंग्य दोनों स्तरों पर 'पगद्य' काफी दूरी और बुनियादी फर्क रखता है।

पगद्य का स्वर व्यंग्य का है। इस व्यंग्य का स्वर कबीर-परंपरित बेलौसपन का है। कवि में यह व्यंग्य आत्मव्यंग्य की उदारता और उच्चता तक पहुँचने की निर्ममता रखता है। कवि वर्तमान जीवन की अनुखंडता और व्यक्ति के बौनेपन से सुपरिचित है। वह लघुमानव की संवेदना के प्रति समव्यथ है। जीवन और जगत् की वर्तमान-कालिक जटिलता का समाहार वह विज्ञान, साहित्य, धर्म और साधना के मिश्रित मस्तिष्क के माथ समझने और समझाने का प्रयत्न करना है। साहित्य को विज्ञान की नजर से, विज्ञान को धर्म की नजर से, धर्म को अध्यात्म की नजर से, अध्यात्म को साधना की नजर से और साधना को बहुजन हिताय सामाजिकता की नजर से देखने की विभक्त और पुंजीभूत शक्ति डॉ० श्रीनिवास में हैं। अपनी इस 'शक्ति' का उपयोग उन्होने 'मैं कहाँ हूँ? "जैसे गद्य-ग्रंथ में भी किया है और अपनी पगद्य-रचनाओं में भी।

पगद्य की एक आंतरिक विशेषता यह है कि यह अपनी प्रगीत-काय संरचना में भी श्रेण्यता रखता है। निराला की कुछ प्रगीत-काय रचनाओं में यह श्रेण्यता सहज ही मिल जाती है। 'पतियाँ' का कैक्टस आधुनिक मुमूर्षा और जिजीविषा के मध्य रज्जुकर्षण करते हुए लघुमानव के संघर्ष और विजय का प्रबंध-प्रतीक है। 'दिव्यप्रभात' व्यक्ति के आसंग की रचना होकर भी वृहत्तर मानवता ओर युगबोध के दिव्य प्रभात का उल्लेख करता है।

'पतियाँ' का एक उद्धरण इस कथन को पुष्ट करेगा,—

"मेरे क्लांत नयन-पलकों से 'मदहोशी' हाँको ना—मेरे वालू के प्याला पर हाला झहराओ ना। पक्ष-कक्ष के पलड़ों पर तुम क्षमता को आँको ना।"

"प्राणों के वल्कल, ज्वाला को—हँस-हँस कर टालो ना। लघुमानव के तुम प्रतीक से नाहक लोहा लो ना।"[22]

'दिव्यप्रभात' (पगद्य) की कुछ पंक्तियाँ भी इस स्थापना को प्रमाणित करेंगी,—

"जैसे पैरोल पर पिंगल से छूटकर कविता बहिर्मुखी हुई हो।
जैसे जमानत पर कोई रोमियो लौटा हो।"[23]
"सुनो
तुम्हारा सर्जन
विश्वव्यथा का चिन्मय वाष्पीकरण
वाष्प का मेघदूत : इतिहास,
बेलपत्र का त्रिक-दर्शन
तुम चिर प्रभात।"[24]

पगद्य पर परेशान होने से लेकर इसे काव्यांदोलन मानने वाले सु-धी समधी समीक्षक चिंतित हैं कि यह क्या चीज आ गई और उन्हें 'पगद्य' को पद्य मानने में कठिनाई होती है।'[25]

युग-बोध एवं सामाजिक संत्रास से अलग रह जानेवाला कवि कभी उल्लेख्य नहीं हो सकता। डॉ० श्रीनिवास ने पगद्य-शिल्पित कविताओं में इस दृष्टि का दर्शन तो दिया ही है, अपने निबंधों में भी उन्होंने काव्य के संबंध में अनेक चिंतन उपस्थित किए हैं,—

"कविता को पिंगल में बाँधना, उसे बेड़ियों में जकड़ देने जैसा है। समाज की मान्यताएँ बदलती जाती हैं तो कवि की उपमाएँ भी करवटें बदलती हैं। कवि की अनुभूतियाँ ही पिघल कर कविता बनती है। समय इन्सान को अनदेखी दिशाओं में उड़ाए लिए जा रहा है और आदमी हताश, संत्रस्त और बे-काबू हाथ-पैर पीट रहा है। इतनी गर्म लू चल रही है कि देह झुलसती जा रही है। कविता के गर्म आँसू धरातल पर गिरने के पहले ही भाप बनकर उड़ जाया करते हैं। सारी धरती रेगिस्तान बन गई है, जहाँ किसी से न लेना न देना, अकेला कैक्टस लघुमानव भी Pin-Pricks लिए बैठा है।"[26]

रचना-प्रक्रिया और रचनाकार-धर्म पर विचार करते हुए डॉ० श्रीनिवास ने लिखा,—

"इहलौकिक Umbra को वर्तुलाकार घेरे कवित्व का Penumbra ऐसे दृश्य दिखलाता है, जिसका बोध तो होता है, पर जिसका शोध संभव नहीं। जैसे नीले रंग पर कवि ने लाल रोशनी डालकर दृश्य को बैंगनी बना दिया हो।"[27]

डॉ० श्रीनिवास की कविताओं में सहज संवेदना के साथ प्रयोगात्मक प्रकर्ष भी है, इस सत्य को एकाधिक स्थलों पर स्वीकार किया गया है,—

"इनकी कविताओं में तनिक भी फर्सूदगी या रस्मियत नहीं है। इन कविताओं में ताजगी है और अपारंपरिक होने के कारण प्रयोग है।"[28]

'नागफनी' डॉक्टर श्रीनिवास की एक लंबी कविता है। इसमें कवि ने एक ओर इसे (नागफनी को) सामाजिक प्रतिनिधित्व दिया है,—

"तू
आज के समाज
का
प्रतीक"[29]

तो दूसरी ओर नागफनी का दर्शन उपस्थित किया है,—

"जानेमन ! तू ज़िंदगी का राज है
ज़िंदगी को मौत ही पर नाज है।"[30]

कुल मिलाकर डॉ० श्रीनिवास की काव्य-चेतना अपरंपरा, आधुनिकता और उन्मुक्ति की पृष्ठभूमि पर अवतरित हुई है। कविता के शिल्प और तंत्र के रूप में 'पगद्य' का प्रयोग-उपयोग किया गया है। पगद्य में 'पद्य' की ध्वनि है। यह नाम भर है। कवि की रचना 'पद्य' नहीं, 'कविता' है। और, कवि पद्यकार नहीं कवयिता है। वह Poet है, Verse-writer नहीं। पगद्य के 'पद्य' से पद्यकारिता का भ्रम हो सकता है। इसी भ्रांति-भंजन के लिए ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि 'पगद्य' कवि की काव्याभिव्यक्ति का शिल्प और स्थापत्य है। पगद्य का दर्शन वह 'कविता' है, जो जीवन-खंड को समस्त के साथ और

समस्त को जीवन-खंड के संगानुषंग में तुलिताकलित करता हुआ संप्रेषित करता है। यह दर्शन ही 'पगद्य' है। और पगद्य का प्रस्तोक्ता दर्शक से अधिक द्रष्टा।

---

१. पद्य + गद्य = (प + ग) द्य = पगद्य।
२. 'नवविहार', 'कोषा' इत्यादि में प्रकाशित प्रतिक्रियाएँ तथा 'इतरेतर' के संपादक के नाम आगत पत्र में मत-सम्मत।
३. 'इतरेतर' २. [१ नवंबर १९६९ ई०] के 'संपादकीय' [निशांतकेतु] का अंश।
४. आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा प्रस्तावित-स्वीकृत नाम [हिंदी-साहित्य का इतिहास]
५. 'गद्यभारती': संपादक—केसरी कुमार (पुरोवाक् : केसरी कुमार)
६. वामनः काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः, १-३-२१
७. On the relation of Poetry to Prose.
८. "Poetry has as much to learn from prose as from other Poetry."—T.S. Eliot, The use of Poetry.
९. "Poetry has always striven to be something other than Prose."—J. Isaacs, "The Background of Modern Poetry."
१०. 'वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।' पंडित विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण : ६।३३०
११. संस्कृत चंपूकाव्य
१२. जयशंकर प्रसाद।
१३. मैथिली शरण गुप्त।
१४. इतरेतर : २ में प्रकाशित [१ नवंबर १९६९ ई०]
१५. कोषा : [अप्रील १९७०]
१६. महादेशः फरवरी १९६८ ई०
१६. डॉ० श्रीनिवास।
१८. केदारनाथ मिश्र प्रभातः [प्रत्र-प्रतिक्रियांश] कोषा : जून' ७०
१९. "डॉ० श्रीनिवास की रचना को 'पगद्य' कहा गया है, जबकि इसके लिये पहले से ही चंपू नामक शब्द चला आ रहा था। वह गढ़ा हुआ शब्द 'पगद्य' भी 'प्रपद्य' की नकल करता हुआ-सा मालूम होता है, अच्छा नहीं मालूम होता।" राधाकृष्ण, (पत्र-प्रतिक्रियांश): कोषाः जून ७०।

२०. 'नवीन और उल्लेख्य' स्तंभ, 'इतरेतर'-समीक्षा : [श्रीरंजनसूरिदेव], परिषद् पत्रिका, पटना, जनवरी १९७०
२१. 'इतरेतर'२, [१ नवंबर १९६९], संपादकीय [निशांतकेतु]
२२. उपरिवत्, पृ० २२
२३. दिग्प्रभात : डॉ० श्रीनिवास, कोषा पृ० ११
२४. उपरिवत् : पृ० १४
२५. नवविहार : केदारनाथ कलाधर, (२२ नवंबर १९७०) पृ० ७
२६. 'कविता' : डॉ० श्रीनिवास, 'इतरेतर' २ [नवंबर १९६९] पृ० २४
२७. उपरिवत्, पृ० २४
२८. एक हृदय-विशेषज्ञ की सहृदयता के कुछ पहलू (निबंध) : डॉ कुमार विमल 'कविता-संगम': संपादकः ऋषिकेश
२९. 'नागफणी': डॉ० श्रीनिवास, 'कविता-संगम' : संपादक : ऋषिकेश, पृ० ११
३० उपरिवत्, पृ० १२

रचनालोचन

साहित्य में 'कवित्व' और 'आचार्यत्व' ये दो ऐसे पारिभाषिक पद हैं, जिनकी व्याप्ति और परिभाषा में परिवर्तन होते रहे हैं। 'कवित्व' कारयित्री प्रतिभा का और 'आचार्यत्व' भावयित्री प्रतिभा का प्रतिनिधित्व करनेवाले शब्द हैं। रचनाकार का कोटीकरण कारयित्री-भावयित्री प्रतिभा के अंतर्गत नवीन नहीं होकर भी आज अनिवार्य सिद्ध हो रहा है। यद्यपि यह भी एक नई विवशता सामने है कि आज निरपेक्षतः कोई रचनाकार न केवल कारक है, न ही भावक।

इस पुराने प्रतिमान पर हिंदी के आदिकाल से भक्तिकाल तक के रचनाकार केवल कारक प्रतिभा के अंतर्गत व्यवस्थाप्य हैं। रीतिकाल में पहली बार कवित्व और आचार्यत्व का प्रश्न उठा और इसी आधार पर इस काल के कवियों की दो कोटियाँ भी हो गईं। आधुनिक काल में रचनाकार के ये दोनों धर्म ऐसे मिल गए कि दोनों में स्पष्ट भेद कर पाना कठिन हो गया और साथ ही किसी एक को लेकर चल पाना भी मुश्किल हो गया।

कवित्व-गुणधर्मा 'कवि' रचनाकार का और आचार्यत्व-गुणधर्मा 'आचार्य' आलोचक का पर्याय है। यहीं यह प्रश्न चिह्नवत् उपस्थित होता रहा है कि आलोचक रचनाकार है या नहीं? कम-से-कम आधुनिक काल की आलोचना ने आलोचकों को भी कारकत्व या रचनाकारिता का स्तर दिया है, इसमें अनैकमत्य नहीं है।

'आलोचक'—लेखक और पाठक के बीच ऐसा सेतुबंध समझा जाता है, जिसमें दोनों का समान प्रवेश होता है। आलोचक लेखक की रचना को अपनी विशिष्ट संवेदनशीलता में तद्वत्, पुनरनुभूत कर उसके (रचना के) गुणदोष का सम्यक् विवेचन उपस्थित कर देता है। यह पाठकों के लिए सुगम पथ हो जाता है।

लेखन में 'कविता' अपेक्षाकृत अधिक व्याख्यापेक्षी साहित्य-विधा है। इसलिए कवि के लिए आलोचक की अधिक आवश्यकता अनुभव की गई है। किंतु आज की रचना में स्वयं कवि आलोचक का दायित्व ले रहा है। इस प्रक्रिया की सरणियों का विश्लेषण अपेक्षित है।

संस्कृत-हिंदी में आलोचक के लिए समीक्षक, समालोचक, परीक्षक, विवेचक, मूल्यांकक, इत्यादि शब्दों का व्यवहार होता है। आलोचना, समालोचना, समीक्षा, परीक्षा इत्यादि शब्दों में लोचन-ईक्षण (देखने) का भाव है। कहीं यह देखना सम्यक् (समालोचना-समीक्षा) रूप से है; कहीं चारों ओर (परीक्षा) से, तो कहीं आरंभ से अंतपर्यंत (आलोचना) इत्यादि। द्रष्टा के इस दर्शन में निर्वैयक्तिकता की निरुक्तिसिद्ध अपेक्षा की गई है। इसी निकष पर 'दोषाः वाच्याः गुरोरपि' तक की घोषणा की गई।

अँगरेजी समीक्षा-दर्शन में समीक्षक जनता का ऐसा संवेदनशील मंत्री होता है, जिसकी स्वतंत्रता नियंत्रित नहीं होती,—

"The critic is only the secretary of the public, but a secretary who does not wait to take dictation, and who divines, who dicides, who expresses every morning what everybody is thinking."[1]

आलोचक जनता का ऐसा प्रतिनिधि होता है, जिसकी घड़ी जनता की घड़ी से पाँच मिनट आगे होती है, अर्थात् वह सामान्य व्यक्तियों से बहुत पहले लेखक का कथ्य समझ लेता है,—

"A critic is a man whose watch is five minutes ahead of other peoples' watches."[2]

आलोचना मूलरचना की प्रगति के समानांतर समृद्ध होती चलती है,—

"As the arts advance to-wards their perfection, the science of criticism advances with equal pace."[3]

कभी-कभी समीक्षकों की समीक्षा कारक रचनाकार ने आक्रोश के साथ की है,—

"As soon
Seek roses in December, ice in June;
Hope Constancy in wind, or corn in chaff;
Believe a woman or an epitaph,
Or any other thing that's false, before
You trust in critics."[4]

संस्कृत में, भवभूति ने अपने समीक्षकों से दुःख एवं आक्रोशपूर्ण असंतोष प्रकट करते हुए लिखा था,—

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।"[5]

हिंदी में छायावाद-काल में कवियों ने समीक्षा का दायित्व भी स्वयं लिया और अपनी कविता और उसकी प्रवृत्ति के संबंध में बहुत-बहुत लिखा । इसीलिए छायावाद की अच्छी-से-अच्छी समीक्षा छायावाद के कवियों द्वारा ही प्रस्तुत की गई । यह उस काल-सीमा का अनुन्नत आलोचक-वर्ग भी सिद्ध करता है । आत्याधुनिक काल में रचनाकार का आलोचक-रूप अधिक अनिवार्य सिद्ध हो रहा है ।

रचना और आलोचना के अंगागित्व पर विचार करते हुए डॉ० श्यामसुंदर दास ने लिखा, "यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा ।" मिडिल्टन मरे ने भी मिलती-जुलती बात कही है, 'कला जीवन की सजगता है, आलोचना कला की सजगता है ।'

किंतु कवि अपनी ओर से अपनी कविताओं की व्याख्या-सहित भूमिका उपस्थित करे या अलग से लंबी समीक्षाएँ लिखे, क्या यह अनिवार्य है ? हिंदी में आज ऐसे अनेक काव्य ग्रंथ हैं, जिनके आरंभ में कवि ने साठ-साठ पृष्ठों की समीक्षा-संवलित भूमिकाएँ दी हैं और ऐसे भी अनेक काव्य-ग्रंथ हैं, जिनमें आरंभ से अंत तक हस्ताक्षर के अतिरिक्त कहीं भी कवि व्याख्याता अथवा आचार्य के रूप में अध्येता के समक्ष उपस्थित नहीं होता । कवि समीक्षक के धरातल से गद्य का निर्मखण आस्तरण बिछाता है, यह उसकी व्यक्तित्व-विभक्ति-वृत्ति है । कवि अपनी कविताओं की व्याख्याएँ स्वतः उपस्थित नहीं कर रहस्य और अनेकार्थि-ध्वनित संश्लेष का निर्गद्य आतंक भी उपस्थापित करता है । प्रथम प्रक्रिया में समीक्षक और दूसरी प्रक्रिया में कवि का रचनाकारधर्म बलत्तर समझा जा सकता है ।

कवि प्रायः अपनी ओर से व्याख्याएँ उपस्थित करना नहीं चाहता । इसके मूल में रहस्य, गोपन, अस्पष्टता, दुरूहता, संश्लेष इत्यादि कई कारण हो सकते

हैं, जो अनेकत्र काव्य-सौंदर्य के रूप में स्वीकृत हैं। ये कारण कवि द्वारा पाठकों के कठघरे से बच निकलने के बहाने भी बन सकते हैं।

अपनी ओर से व्याख्याएँ उपस्थित करना कवि का आचार्य और आलोचक बन जाने का खतरा उठा लेना है। कवि की महत्त्वाकांक्षाएँ भी यहीं कहीं देखी जा सकती हैं। पाठक की रसज्ञता के प्रति अनाश्वस्त होकर या सहृदय सामाजिक की संबोध-वृत्ति को ऋजुतर कर देने की दृष्टि से भी कवि अपनी सिसृक्षा तथा सर्जन-प्रक्रिया के आसंगों से अन्वित व्याख्या उपस्थित करने का कृच्छ्रकर्म स्वीकार करता है। इन्हीं कई प्रेरक तत्त्वों से निर्मित कविराज जगन्नाथ के कवित्व तथा आचार्यत्व का समन्वय आज सामान्यीकृत हो रहा है। शंकासूत यह समन्वय सामान्य और शीर्षण्य सभी प्रकार के कवियों में न्यूनाधिकतः अन्वेष्य है।

सर्जनात्मक साहित्य [Creative Literature] और समालोचना-साहित्य [Criticism] की पूर्वापर स्थितियों में एक स्पष्ट अंतर है। पहले आलोचना आलोच्य से हीनतर थी, आज आलोचना आलोच्य से हीनतर नहीं है, उसके समानांतर है, कहीं-कहीं आगे भी। पहले की समीक्षा सूक्ति-समीक्षा के अंतर्गत व्यवस्थित की जा सकती है। कालिदास की संपूर्ण रचना की समीक्षा मात्र दो शब्दों में कर दी गई, —' उपमा कालिदासस्य ।'' दंडी की आलोचना 'पदलालित्य' को लेकर कर दी गई। भारवि में केवल 'अर्थगौरव' का अनुसंधान हो सका। राजशेखर केवल 'सुधास्यन्दिनी सूक्ति'-कार थे। वाल्मीकि 'सरससूक्तिरङ्गभङ्गो' के कवि थे। व्यास की समालोचना 'अमाललोचन शम्भु' कहकर की गई। इस प्रकार संस्कृत-समालोचना-साहित्य 'सूक्ति-समीक्षा-पद्धति' पर आधारित है। यह भी सत्य है कि समालोचना का शास्त्र संस्कृत में जितना विकसित रहा है, उतना हिंदी में आज भी विकसित-विस्तृत नहीं है। लेकिन आज का युग विभक्ति, विश्लेषण और विस्तारण का है। इसीलिए आज चार शब्दों की रचना पर हजार शब्दों की समीक्षा भी अपूर्ण समझी जा सकती है।

अतः समीक्षा 'सूक्ति' और 'संक्षेपण' से 'गुण-दोष-विवेचन' और 'विश्लेषण' पर आ गई है। सर्जनात्मक साहित्य में यह प्रक्रिया विलोम है। प्राचीन महाकाव्यात्मक प्रवृत्ति आज प्रगीतात्मक हो चली है, अथवा प्राचीन 'विस्तृति' आज की 'संक्षिप्ति' में बदल गई है। 'समीक्षा' लघिमा से महिमा की ओर और 'रचना' महिमा से लघिमा की ओर प्रसरण करती चली गई है। अतः

आज का रचनाकार केवल सर्जनात्मक साहित्यकार ही नहीं, आलोचक बनना भी उतना ही अनिवार्य समझता है।

छोटी-से-छोटी कविता की बड़ी-से-बड़ी सार्थक सभीक्षा के अपने मनोवैज्ञानिक अभिप्रेत-प्रत्यय हैं। रचनाकार को संतोष यह सोचकर होता है कि उसने पिंड में ब्रह्मांड को आयत्त कर लिया है, अणु में महत् को अध्युषित कर दिया है। समालोचक को भी उतना ही संतोष मिलता है। वह सोचता है कि मैंने परमाणु की विस्फोट शक्ति का उद्घाटन कर दिया है या बिंदु को वाष्पित कर आकाश में सर्वत्र व्याप्त कर दिया है। लघुत्व और संक्षिप्ति के युग की यह अनिवार्य प्रक्रिया है। बौद्धिकता और विश्लेषण के युग की यह सामान्य पद्धति समझी जाएगी।

साहित्य की सिसृक्षा और सर्जन-प्रक्रिया की पीड़ा को कवि से अधिक आलोचक या अध्येता शायद ही समझे, तथापि वह (कवि) पाठक की रसज्ञता के प्रति आश्वस्त होकर ही कविता का प्रकाशन करता है। अतः कविता के संपूर्ण संबोध और सम्यक् रसान्विति के लिए कवि की ओर से प्रस्तावित रचना-प्रक्रियान्वित आत्म-विश्लेषण आवश्यक है या नहीं, इस प्रश्न पर विचार ही होता रहा है। भारतवर्ष में नाम-गोत्र-कुल रहित ऐसी अनेक काव्य-रचनाएँ हैं, जिनकी युगांतर महत्ता सिद्ध है। हम यह भी नहीं जानते कि इन ग्रथों के रचनाकार कौन हैं, वे कब हुए, कैसे रचनाएँ कीं इत्यादि-इत्यादि, जबकि आज चार पंक्तियों की रचना पर आठ पंक्तियों का परिचय प्रकाशित होता है। इनमें कौन कितना अनिवार्य है ? प्राचीन पदार्थ-निष्ठता अथवा आधुनिक आत्मगतत्व ?

संस्कृत में, हिंदी के रीतिकाल में और आधुनिक काल में कारक-भावक उत्तरदायित्व का एवंविध साहित्यिक समीकरण अनेकत्र है। इस समन्वय से पाठकों के लिए कविता की आत्मा तक पहुचने का दिङ्निर्देशन तो होता है, कभी-कभी यह मार्ग इतना लंबा या वक्र हो जाता है कि पाठक के उलझ-भटक जाने या विलंब से रसान्वित होने अथवा रसाभासित भर रह जाने की शंका बनी रहती है, जबकि व्याख्या-विहीन कविताएँ शीघ्र ही रसोपचित हो जातीहैं। रचना-प्रक्रिया के बाद बोध-प्रक्रिया की ये आवश्यक समस्याएँ हैं।

कविता में जिस केंद्रण और सूत्रण के साथ वर्णन-चित्रण संभव है, वह साहित्य की इतर विधा में कठिन है। हमारी जनसंख्या का अल्पांश ही साक्षर है, जिसमें अल्पांश शिक्षित हैं। शिक्षितों में रसज्ञ (संवेदनशील) पाठक अल्पतर

हैं। इनमें कविता के पाठक की अल्पता स्वयंसिद्ध है और इनमें भी कविता की रसज्ञता में आत्मोपचित होने की सहृदय-सामाजिकता और आस्था रखनेवाले पाठक अलिपष्ठ हैं। यह तो कविता के पाठक-वर्ग के सीमांकन की स्थिति हुई। रचनाकारों में कवि-वर्ग का भी उधर यही कुछ हाल है,—नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा, कवित्वं दुर्लभम् तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।' अतः कविता प्रचार-प्रसार की दृष्टि से आज गद्य से पराजित होकर भी साहित्य की सबसे प्राचीन और समर्थ विधा है। इस मान से कविता की सर्वोच्चता आत्मसिद्ध है।

मनुष्य अपना वर्णन जैसा और जितना कर पाता है, उससे अधिक उसका वर्णन-विश्लेषण दूसरा कर सकता है, ऐसा समझा जाता है। अपनी आँखों से मनुष्य अपनी ही आँखें नहीं देख पाता है, किंतु जिसने अपनी ही आँखों से अपनी आँखें देखने की निस्संगता अर्जित कर ली, उसे 'द्रष्टा' की आख्या दी जा सकती है। जिसने 'अन्य' के 'मन' से अपने को मूल्यांकित करने की निर्मम अन्यमनस्कता प्राप्त कर ली, उसे निस्संग व्यक्ति कहा जा सकता है। इसलिए कवि की ओर से उपस्थापित आत्मालोचन का कविता के समानांतर अपना महत्त्व है। नारिकेल-पाक के आस्वाद का प्रथम प्राप्तिकर्ता कवि अपने पाठक तक भी उसे आस्वाद्य बना दे, यह उसका सम्यक् समालोचक-धर्म है। यद्यपि अरोचकी आलोचकों का अभाव नहीं, विशेषकर मूल्यों के विघटन-संघटन की इस संक्रांति स्थिति में, जिन्हें अपनी विरस रसना के कारण पिचुमंद पाक का स्वाद तो स्वयं मिलता है, दूसरों तक भी वे उसे तथावत् आस्वाद्य बना देते हैं। इसीलिए कवि का आलोचकत्व अपेक्षित है, किंतु साधारणतः तत्वाभिनिष्ट और रसज्ञ पाठक के प्रति आश्वस्त होकर ही कवि आत्म-व्याख्या-विहीन काव्य-ग्रंथ का प्रकाशन करता है। कवि द्वारा प्रस्तुत व्याख्या-संवलित भूमिकाएँ तथा आत्म-विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ कविता की निस्तलता तक पहुँचने के लिए थोड़ा ऑक्सीजन दे सकती है। यहीं तक कवि का दायित्व है। मोती की खोज तो पढ़नेवाला गोताखोर खुद करता है। इस प्रक्रिया में समीक्षक से उसे सहायता मिल सकती है। आलोचक स्वयं भी रचनाकार हो सकता है। संस्कृत-परंपरा ने गद्य को कवियों का निकष मानकर इसी व्याख्या-वृत्ति की पुष्टि की है,— "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।"

यह सिद्धांत कि समीक्षा साहित्य के अंतर्गत व्यवस्थाप्य है, अब विवाद-ग्रस्त नहीं है। विवाद का बिंदु इतर है, वह यह कि समीक्षा केवल कला है या विज्ञान भी। यह विवाद भी अब इस निष्कर्ष में पर्यवसित हो रहा है कि

समीक्षा कला और विज्ञान का समन्वित साहित्य-रूप है। आलोचकों ने आलोचना को इसी प्रतिमान पर कलावशिष्ट माना है।

एक उदाहरण से रचनाकार और आलोचक का अंतर तथा संबंध स्पष्ट किया जा सकता है। रोगी अपनी पीड़ा को अनुभूत करता हुआ व्याकुल होता है। अपनी पीड़ा के प्रति रोगी आत्मनिष्ठ, भोगी, संसक्त और संपृक्त है। चिकित्सक अव्याकुल भाव से ही रोगी की पीड़ा के कारण और निवारण की व्याख्या अधिक अच्छी तरह कर सकता है। चिकित्सक उस पीड़ा के प्रति समव्यथ होकर भी वस्तुनिष्ठ और निस्संग है। संस्कृत में इस भाव को स्पष्ट करनेवाली सूक्ति है,—'काव्यं कुर्वन्ति कवयः, रसं जानन्ति पण्डिता :।'

साहित्य की विभिन्न विधाओं के साथ रचनाकार की आलोचना-धर्मिता परिवर्तित हो जाती है। एक उपन्यासकार उपन्यासों की भूमिका के क्रम में या अलग से आलोचना के प्रसंग में अधिक लिख नहीं पाता। कहानीकार को इस व्याख्या की कभी-कभी आवश्यकता प्रतीत हो जाती है। नाटककारों ने भूमिका-प्रसंग तथा आलोचना-प्रसंग में रंग-सज्जा के बहाने बहुत कुछ लिखा है। कविता सर्वाधिक संश्लिष्ट साहित्यविधा है। अत: कवि को इस व्याख्या की सर्वाधिक अपेक्षा रहती है। या तो कवि यह व्याख्या स्वयं करे या समालोचक करे। कभी-कभी समालोचकों की गलत व्याख्या के उत्तर के क्रम में भी कवियों को बहुत कुछ लिखने की लाचारी रही है।

युग की चेतना का प्रभाव रचनाकार पर प्रत्यक्ष होता है। यह युग विश्लेषण, वैविध्य और क्षैतिजता का है। अतः आज का रचनाकार भी प्राचीन शीर्षीय युग के रचनाकारों की तरह किसी एक ही साहित्य-विधा में नहीं लिखता। आज का रचनाकार कविता और कहानी, जीवनी और आत्मकथा, नाटक और आलोचना सब कुछ साथ-साथ लिखता चल रहा है। काव्य में उसकी चेतना और संवेदनशीलता का संश्लेषात्मक संघनन होता है तो आलोचना में उसका व्याख्यात्मक वाष्पन होता है। कहीं गद्यात्मक रम्य रचना में उसकी संवेदनशीलता का तरलीकरण भी होता है। इस प्रकार आज का रचनाकार केवल रचनाकार ही नहीं, समालोचक भी है, और इसी प्रकार आज का समालोचक केवल समालोचक ही नहीं, रचनाकार भी है। इसमें न्यूनाधिकता का अंतर हो सकता है। कथ्य की प्रकृति ही शिल्प और अभिव्यक्ति विधा धारण करती है। कोई विधा या शिल्प प्रमुख होकर या ढाँचा बनकर कथ्य कहने लग जाए तो बात उलट जाएगी। जैसे बीज अपनी प्रकृति और

संस्कार के अनुकूल वृक्षत्व धारण करता है, उसी प्रकार संवेदनशीलता की अतिशयता के फलक पर स्पंदित अनुभूति अपनी प्रकृति के अनुकूल आलोचना का तंत्र बदल जाता है।

रचना और आलोचना अथवा रचनाकार और आलोचक का परस्परापेक्षि-संबंध है।

1. Sainte-Beuve. (Giese, Sainte-Beuve)
२. उपरिवत्
3. Edmund Burke, on the Sublime and Beautifnl. Pt. i, Introduct:on.
4. Byron, English Bards and Scotch Reviewers, 1.75
५. मालतीमाधव : भवभूति : १।६

भाषा

संसार की सभी भाषाओं की संख्या लगभग तीन हजार है। इन सभी भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए इनके वर्गीकरण की आवश्यकता भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में आवश्यक है। इससे भाषाओं के अध्ययन में भी सौकर्य आता है।

विश्व की भाषाओं को वर्गीकृत करने के पहले कई आधार किए गए। यूरोप के भाषावैज्ञानिकों ने सर्वप्रथम प्रत्येक देश की भाषा का पृथक्-पृथक् अध्ययन आरंभ किया। किंतु यह सम्यक् अध्ययन नहीं था। एक ही देश की भाषाओं में एक दूसरे से साम्य प्रतीत नहीं हुआ। प्राचीनकाल में धर्म को भी भाषाओं के वर्गीकरण का आधार माना गया, किंतु यह सर्वथा निर्मूल था, क्योंकि धर्म का भाषा से कोई संबंध नहीं है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषाओं के वर्गीकरण के दो आधार ही प्रमुख और प्रामाणिक माने गए, - —

१ आकृतिमूलक वर्गीकरण
२ पारिवारिक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण को रूपात्मक, रचनात्मक या पदात्मक भी कहते हैं। अँगरेजी में इसे Morphological, Typicar अथवा Synlactical कहा गया है।

आकृति और रूप पर्याय हैं। रचना उस आकृति अथवा रूप की निष्पति-प्रक्रिया की व्याख्या है। पदात्मक रचना से संबद्ध है। शब्द की निष्पत्ति के तीन तत्त्व हैं, ——

(क) प्रकृति [धातु] (ख) प्रत्यय (ग) उपसर्ग

शब्दरचना का मूलतत्त्व प्रकृति अथवा धातु है 'धातु' शब्द में 'धा' धातु है। अर्थात्, जो किसी को धारण करे। यही अर्थ का आधार है। प्रत्यय इसके

व्यापार को स्पष्ट करता है तथा उपसर्ग प्रकृति और प्रत्यय के योग से बने शब्दार्थ को द्योतित करता है । एक उदाहरण से प्रकृति, प्रत्यय तथा उपसर्ग का अंतर स्पष्ट हो जाएगा, — प्रचार, प्रहार ।

प्र (उपसर्ग) + चर् (प्रकृति) + घञ् (प्रत्यय) = प्रचार
प्र (उपसर्ग) + हृ (प्रकृति) + घञ् (प्रत्यय) = प्रहार

उपसर्ग के भेद से अर्थ में भी भेद हो जाता हैं । इसी के विषय में 'दुर्गा-दास' में लिखा है, —

"उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
नीहाराहारसंहारप्रतिहारप्रहारवत् ।"

एक ही 'हार' शब्द नी, आ, सम्, प्रति और प्र उपसर्गों के योग से विभिन्न अर्थों में परिवर्तित हो जाता है । इस दृष्टि से उपसर्ग को अर्थ का द्योतक कहते हैं, अर्थात् शब्द में निहित अनेक अर्थों को वह प्रकाशित कर देता है ।

प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान अथवा धारणा (Concept) 'हँस' में 'ती' प्रत्यय लगाने पर 'हँसती' शब्द बना, जिससे शब्द की धारणा बनी ।

विभक्ति भी एक तरह का प्रत्यय है, किंतु अंतर यह है कि प्रत्यय का प्रयोग शब्दरचना के लिए होता है और विभक्ति का प्रयोग वाक्यरचना अथवा पदरचना केलिए । विभक्ति = 'वि' पूर्वक 'भज्' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगने पर 'विभक्ति' शब्द बनता है । विभक्ति अर्थ को विभक्त कर देती है । उदाहरणतः—

वह मंदिर आना

उपर्युक्त वाक्य में केबल शब्द हैं । अर्थ स्पष्ट नहीं होता । इसमें विभक्ति नहीं है, अतः अर्थ का बिभाजन भी नहीं है । विभक्ति लगने पर अर्थ स्पष्ट और विभक्त हो जाता है,—

वह मंदिर से आता है ।
वह मंदिर से आई ।
वह मंदिर से आएगी ।
इत्यादि

विभक्तिहीन शब्द 'शब्द' कहलाता है और बिभक्तियुक्त शब्द पद ।
भाषा में दो तत्त्व पाए जाते हैं,—१. रचना-तत्त्व २. अर्थतत्त्व

केवल रचना-तत्त्व के आधार पर किया गया वर्गीकरण आकृतिमूलक वर्गीकरण है तथा रचना-तत्त्व और अर्थतत्त्व के सम्मिलित आधार पर किया गया वर्गीकरण पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण का संबंध—शब्द की केवल बाह्य आकृति, रूप या रचना-प्रणाली से होता है, अर्थ से नहीं।

आकृतिमूलक वर्गीकरण के दो भेद हैं,—

१. अयोगात्मक [निरवयव या रूढ़]
२. योगात्मक [सावयव या यौगिक]

पारिवारिक वर्गीकरण—रचनातत्त्व और अर्थतत्त्व के आधार पर किया गया वर्गीकरण पारिवारिक वर्गीकरण होता है।

संसार की भाषाओं में अर्थ का एक अंतरंग संबंध रहता है। एक ही भाषा से कालांतर में अनेक की उत्पत्ति होती है, जिसे एक परिवार में रखा जाता है। 'उत्पत्ति' का अर्थ विकास है।

पारिवारिक वर्गीकरण के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अतः इसकी संख्या निश्चित नहीं है। किंतु अट्ठारह परिवार ऐसे हैं, जो प्रमुख तथा सर्वमान्य हैं। वे हैं,—

१. भारत-यूरोपीय परिवार
२. द्राविड़ परिवार
३. बुरुशस्की परिवार
४. यूराल-अल्टाई परिवार
५. कॉकेशी परिवार
६. चीनी परिवार
७. जापानी-कोरियाई परिवार
८. अत्युत्तरी परिवार
९. बास्क परिवार
१०. सामी-हामी परिवार

११. सुदानी परिवार
१२. बंटू परिवार
१३. होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार
१४. मलय-बहुद्वीपीय परिवार
१५. पापुई परिवार
१६. आस्ट्रेलियाई परिवार
१७. दक्षिणपूर्व-एशियाई परिवार
१८. अमरीकी परिवार

भाषा के समानांतर कई शब्दांतर बनते हैं,—

१. भाष्—Voice
२. भाषा—Language
३. उपभाषा—Dialect, Colloquial Language
४. अपभाषा—Slang
५. राजभाषा—Official Language
६. राष्ट्रभाषा—National Language
७. संपर्क-भाषा—Link Language
८. माध्यम-भाषा—Medium Language
९. लोकभाषा—Popular Language
१०. मातृभाषा—Mother tongue
११. प्रतिमित भाषा, परिनिष्ठित भाषा, आदर्श भाषा } Standard Language
१२. अंतरराष्ट्रीय भाषा—International Language
१३. विदेशी भाषा—Foreign Language
१४. प्रतिवेशी भाषा—Neighbour Language
१५. भाषा-विज्ञान—Science of Language, Philology

१६. प्रत्याहार भाषा
आशुलिपि भाषा } —Shorthand Language

१७. भाषण—Speech

१८. भाषण-कला—Oratory

१९. भाषांतर
अनुवाद } —Translation

२०. लिप्यंतर—Transliteration, Transcription

२१. धातुभाषा—Root Language

२२. चित्रभाषा—Pictorial Language

२३. कूटभाषा – Code Language

२४. वाचिक भाषा
मौखिक भाषा } Spoken Language
Oral Language

२५. लिखित भाषा—Written Language

२६. कृत्रिम भाषा—Artificial Language

२७. मिश्रित भाषा—Mixed Language

२८. अयोगात्मक भाषा

२९. योगात्मक भाषा

३०. उत्कीर्ण भाषा—Inscription

३१. प्राकृत भाषा—Natural Language

३२. संस्कृत भाषा—Standardized Language

३३. अपभ्रंश भाषा

३४. जीवित भाषा—Living Language

३५. मृत भाषा—Dead Language

१. मनुष्य की सार्थक ध्वनि को 'भाषा' कहते हैं। इसी शब्द से भाषा, भाषण, Voice इत्यादि शब्द बने हैं।

२. 'भाषा' सामान्य अर्थ में मनुष्य की उस चेष्टा को कहते हैं, जिससे वह उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चरित वाणी के द्वारा अपने विचारों को

प्रकट करता है। संसार में भाषाओं की संख्या लगभग ३ हजार है, जो १८ कुलों में विभक्त है।

३. उपभाषा—प्रत्येक भाषा की अपनी उपभाषाएँ होती हैं। उपभाषा को जनपदीय भाषा, विभाषा, आंचलिक भाषा और बोली भी कहते हैं। कालांतर में उभाषाएँ भाषा का भी रूप ग्रहण कर लेती हैं। मगही, भोजपुरी, मैथिली, अवधी, ब्रजभाषा इत्यादि हिंदी की उपभाषाएँ हैं।

४. अपभाषा—रूढ़ शब्दों की प्रयोगबहुलता जिसमें हो, वह अपभाषा है। अपभाषा में अश्लील या समाज-वर्जित शब्दों की अधिकता होती है। सामान्य रूप से इसे गँवारू भाषा कहा जा सकता है।

५. राजभाषा—किसी भी राष्ट्र की एक राजभाषा होती है; जैसे, फ्रांस की फ्रेंच, रूस की रूसी, इंगलैंड की अँगरेजी, चीन की चीनी इत्यादि। प्राचीन भारत की राजभाषा संस्कृत थी। मध्यकाल में मुसलमानों के समय भारत की राजभाषा फारसी थी। आधुनिक काल में भारत की राजभाषा अँगरेजी है। स्वतंत्रता के बाद भी भारत की राजभाषा दुर्भाग्यवश अँगरेजी ही है। हिंदी गौण-रूप से सहचरी राजभाषा है। अभी भी अँगरेजी ही प्रधान-रूप से भारत की राजभाषा है। 'राजभाषा' को केंद्रीय प्रशासन की भाषा या Administrative Language या Official Language भी कहते हैं।

६. राष्ट्रभाषा—एक राष्ट्र में जितनी संविधान-स्वीकृत भाषाएँ होती हैं, वे सब राष्ट्रभाषा या National Language हैं। भारतीय संविधान में संस्कृत, हिंदी, उर्दू, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, असमी, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी कश्मीरी तथा सिंधी ये पंद्रह राष्ट्रभाषा-रूप में स्वीकृत हैं। हिंदी को ही राष्ट्रभाषा समझना गलत है। हिंदी के साथ बंगला, तमिल, तेलुगु इत्यादि शेष चौदह भाषाएँ हैं। हिंदी राष्ट्रभाषा होने के साथ-साथ गौण-रूप से राजभाषा भी है।

७. संपर्क-भाषा—देश में केंद्र और राज्यों से जिस भाषा में संपर्क हो, उसे संपर्क-भाषा की संज्ञा दी जाती है। राज्यों के मध्य भी जो भाषा संपर्क-सूत्र का काम करे, उसे संपर्क भाषा कहते हैं। भारत में अँगरेजी और हिंदी दोनों ही संपर्क-भाषाएँ हैं।

८. माध्यम भाषा—दो व्यक्तियों की मातृभाषाएँ भिन्न-भिन्न हों, किन्तु दोनों के मध्य बातचीत के लिए किसी तीसरी परस्पर-परिचित भाषा का प्रयोग किया जाए तो वह माध्यम-भाषा होगी। दुभाषिए द्वारा भी माध्यम-भाषा का प्रयोग होता है।

९. लोकभाषा—लोकभाषा के दो अर्थ हैं। एक तो आंचलिक या जन-पदीय भाषा; जैसे मगही मैथिली इत्यादि। दूसरा अर्थ है, लोकप्रसिद्ध भाषा, जो इसके अँगरेजी-प्रतिशब्द Popular Language से स्पष्ट है।

१०. मातृभाषा—मा जिस भाषा में बोलकर बच्चे को बोलना सिखाती है, उसे मातृभाषा कहते हैं।

११. प्रतिमित भाषा—भाषा के प्रायः कई रूप होते हैं। सामान्यतः एक रूप व्यवहार का होता है और दूसरा साहित्यिक लेखन के उपयुक्त आदर्श-रूप। इसी आदर्श-रूप भाषा को प्रतिमित या परिनिष्ठित भाषा कहते हैं। इस प्रति-मित रूप में एकरूपता नहीं भी हो सकती है। उर्दू-निष्ठ हिंदी या संस्कृत-निष्ठ हिंदी दोनों ही प्रतिमित भाषा-रूप हैं।

१२. अंतरराष्ट्रीय भाषा—यह एक अस्पष्ट अथवा व्याख्या-सापेक्ष शब्द है। जिस भाषा का व्यवहार सामान्य रूप से प्रायः समूचे संसार में हो, उसे अंतरराष्ट्रीय भाषा की संज्ञा दी जा सकती है, जैसे अँगरेजी। दूसरा आधार राष्ट्रसंघ द्वारा स्वीकृत पाँच भाषाओं का सिद्धांत है। तीसरे, संसार में प्रत्येक देश की भाषा-भिन्नता होने पर भी कुछ अंतरराष्ट्रीय संकेत-चिह्न होते हैं, जिनके एकत्र रूप को अंतरराष्ट्रीय भाषा की संज्ञा दी जा सकती है।

१३. विदेशी भाषा—अपने देश की सीमा से बाहर की भषाओं को विदेशी भाषा कहा जाता है; जैसे—रूसी, फ्रेंच, चीनी, जर्मन इत्यादि।

१४. प्रतिवेशी भाषा—एक ही देश के भीतर विभिन्न पड़ोसी राज्य-भाषाएँ आपस में प्रतिवेशी भाषाएँ कही जाती हैं। उदाहरणतः, हिंदी के लिए बंगला, असमी, तमिल, तेलुगु इत्यादि भाषाएँ प्रतिवेशी हैं।

१५. भाषा-विज्ञान—जिस शास्त्र में भाषा की उत्पत्ति, विकास, तुलना इत्यादि का अध्ययन किया जाता है, उसे भाषा-विज्ञान कहा जाता है।

१६. प्रत्याहार भाषा—इसे अँगरेजी में Shorthand Language या आशुलिपि-भाषा कहते हैं। इसमें किसी भी भाषा को संक्षिप्त-रूप दिया जा सकता है। संस्कृत के प्रत्याहारों में यह संक्षिप्तता थी। इसलिए इसे प्रत्याहार-भाषा भी कहा जा सकता है।

१७. भाषण—मनुष्य अपने विचारों को बोलकर या लिखकर प्रकट कर सकता है। बोलकर भावाभिव्यक्ति करने को 'भाषण' कहा जाता है।

१८. भाषण-कला—धीरे-धीरे, भाषण देने को कला की श्रेणी में आयत्त कर लिया गया। ग्रीस और रोम की भाषण-कला (Oratory) विश्व-प्रसिद्ध है।

१९. भाषांतर—एक भाषा के भाव और विचारों को दूसरी भाषा में जब रूपांतरित कर दिया जाता है तो उसे भाषांतर या अनुवाद या Translation कहा जाता है।

२०. लिप्यंतर—एक भाषा को अपने भाव और वाक्य विन्यास के साथ दूसरी भाषा में यथावत् लिप्यंतरित कर लिया जाता है तो उसे लिप्यंतर या Transliteration या Transcription कहते हैं। इसमें केवल लिपि का अंतर होता है।

२१. धातुभाषा—भाषोत्पत्ति के अनेक सिद्धांतों में एक यह भी है कि भाषा की उत्पत्ति धातु (Root) से हुई है, जैसे—'संस्कृत'

२२. चित्रभाषा—कुछ भाषाओं की लिपि चित्रात्मक होती है; जैसे चीनी भाषा की लिपि चित्रात्मक है।

२३. कूट भाषा—गुह्यार्थ भाषा होती है। संधा भाषा से इसका संबंध जोड़ा जा सकता है। इसमें प्रतीक की प्रधानता होती है। साहित्य में कबीर आदि संतों ने प्रतीकाश्रित कूटभाषा का प्रयोग किया है।

२४. वाचिक या मौखिक भाषा के हो रूप में सभी भाषाओं का विकास हुआ। लेखन-कला का विकास बहुत बाद में हुआ। आज भी अनेक भाषाएँ मौखिक हैं। भारत की कुछ आदिवासी भाषाएँ लिपिहीन हैं। विभाषाओं में अनेक का मौखिक रूप आज भी है।

२५. लिखित भाषा उन्नत या विकसित भाषा का रूप होता है। प्रत्येक भाषा की अपनी लिपि होती है। कुछ ऐसी लिपियाँ हैं, जिनमें अनेक भाषाएँ लिखित होती हैं। उदाहरण के लिए नागरी लिपि में संस्कृत, हिन्दी, मराठी, नेपाली, पंजाबी इत्यादि भाषाएँ लिखी जाती हैं। रोमन लिपि में भी अँगरेजी, फ्रेंच इत्यादि अनेक भाषाएँ लिपिबद्ध होती हैं।

२६. कृत्रिम भाषा का उपयोग गुप्तचर-प्रयोजन के लिए होता है। क्रांति-कारी-आतंकवादी अपनी सुविधा के लिए इस भाषा का प्रयोग करते हैं। चोर-डाकू भी इस भाषा का प्रयोग करते हैं।

२७. मिश्रित भाषा अनेक भाषाओं का मिश्रण होता है।

२८. अयोगात्मक भाषा आकृतिमूलक भाषा-समुदाय का भेद है। इसमें प्रत्येक शब्द पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखता है।

२९. योगात्मक भाषा भी आकृतिमूलक भाषा-समुदाय का भेद है। इसमें शब्द प्रत्ययाश्रित होते हैं। यह प्रत्यय-प्रधान भाषा कही जाती है।

३०. उत्कीर्ण भाषा पत्थर, धातु, भित्ति अथवा इसी प्रकार की आधार-सामग्री पर खुदी-लिखी होती है। प्राचीन काल में मुद्रण-कला के अभाव में प्रचार का एक-मात्र साधन प्रस्तरोत्कीर्णता ही थी। स्तंभों पर राजकीय आदेश-अध्यादेश अथवा धार्मिक उपदेश पत्थरों पर उत्कीर्ण कर प्रचारित किए जाते थे। अशोक ने अनेक स्तंभों पर भाषा का उत्कीर्ण रूप उपस्थित किया था। इसके उदाहरण आज भी अनेकत्र सुरक्षित हैं।

३१. प्राकृत भाषा स्वाभाविक भाषा को कहते हैं। भाषा अपने अमिश्रित, अकृत्रिम तथा स्वाभाविक रूप में प्राकृत कही जाती है। प्राकृत भाषा-विशेष का भी नाम है। इस प्राकृत के अनेक रूप हैं, शौरसेनी प्राकृत, मागधी प्राकृत, अर्धमागधी प्राकृत, पैशाची प्राकृत, ब्राचड़ प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत इत्यादि। यह भी विवादास्पद प्रश्न है कि संस्कृत प्राकृत से निकली या प्राकृत संस्कृत से।

३२. संस्कृत भाषा संस्कार की गई भाषा को कहते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत संस्कार की गई भाषा है।

३३. भाषा में विकास अपभ्रंश से होता है। प्राकृत से संस्कृत, संस्कृत से अपभ्रंश, अपभ्रंश से प्रतिमित भाषा,—यह विकासक्रम चलता रहता है।

३४. जीवित भाषा उसे कहते हैं, जिसमें जन-समुदाय बोले, लिखे, पढ़े। हिन्दी, अँगरेजी, संस्कृत इत्यादि सभी जीवित भाषाएँ हैं।

३५. मृत भाषा में लिखना-पढ़ना-बोलना नहीं हो पाता। भ्रमवश संस्कृत को कुछ लोगों ने मृतभाषा की कोटि में रखा है।

कुछ विदेशी भाषाओं में 'भाषा' के प्रतिशब्द इस प्रकार हैं;—

1. English—Language
2. French – Langue
3. German—Sparche
4. Russian—Yasik
5. Spanish—Lengua
6. Italian—Lingua
7. Portuguese—Lingua
8. Rumanian—Limba
9. Dufch—Taal
10. Swebish—Sprak
11. Danish—Sprog
12. Polish—Nowa
13. Czech—Jazyk
14. Hungarian—Nyelv
15. Finnish – Kieli
16. Turkish—Lisan
17. Indonesian—Bahasa
18. Esperanto—Lingvo
19. Greek—Glossa
20. Hebrew—Laschon
21. Yiddish—Luschon
22. Japanese—Gengo

भाषा समस्त मानव-जाति को एक-सूत्रित करती है। पशु केवल देखता है—पश्यति यः सः पशुः। मनुष्य मनन करता है। मनन मन से होता है—मनुतेऽनेनेति मनः। मनन बिना शब्द के नहीं हो सकता। चिंतन शब्दाश्रित होता है और अनुभूति संवेगात्मक। अनुभूति अशब्द हो सकती है, किंतु चिंतन शब्दाश्रित होता है। शब्द भाषा की भित्ति है। अतः भाषा का स्थान मानव के मानवत्व को सार्थक करनेवाला अनिवार्य तत्त्व है।

संदर्भ : भाषा विज्ञान की भूमिका : आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा; सरल भाषा विज्ञान : डॉ० मनमोहन गौतम; भाषाशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश : राजेन्द्र द्विवेदी; अँगरेजी विश्वकोश; हिन्दी विश्वकोश; भारतीय प्राचीन लिपि-माला : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा; हिंदी भाषा का इतिहास : डॉ० धीरेंद्र वर्मा; भाषा-विज्ञान : भोलानाथ तिवारी; भाषा-विज्ञान : मंगलदेव शास्त्री।

विभाषा

भाषा और विभाषा दोनों में अनेक प्रकार के साम्य और अनेक प्रकार के वैषम्य दोनों होते हैं। भाषा को अँगरेजी में Language और बोली को Dialect कहते हैं। बोली को ही Dialect के अतिरिक्त Colloquial language भी कहते हैं। हिंदी में बोली के दो और नाम हैं,—उपभाषा और विभाषा। बोली के लघुरूप को उपबोली या Sub dialect कहा जाता है। किंचित् अर्थांतर के साथ फ्रेंच का 'पातवा' (Patois) शब्द भी उपबोली ही है। अपभाषा (Slang) का संबंध भाषा से अधिक उपभाषा या बोली से ही होता है।

भाषा को 'आदर्श-भाषा' 'परिनिष्ठित-भाषा' या 'प्रतिमित-भाषा' की संज्ञा दी जाती है। अँगरेजी में इसे ही Standard Language कहा जाता है । इसका दूसरा प्रतिशब्द Koine है , जो यूमानी भाषा का प्रसिद्ध शब्द है। भाषा के विभिन्न रूप और भेद हुआ करते हैं, जिनमें कुछ प्रमुख हैं,—राजभाषा (official Language) राष्ट्रभाषा (National Language), संपर्क भाषा (Link Language) , माध्यम भाषा (Medium Language), मातृभाषा (Mother Language), अंतरराष्ट्रीय भाषा (International Language), विदेशी भाषा (Foreign Language), प्रतिवेशी भाषा (Neighbour Language) । इनके अतिरिक्त साहित्यिक भाषा. शिष्ट भाषा, जाति भाषा, साधुभाषा इत्यादि पदावलियों का प्रयोग किया जाता है ।

भाषा की जीवनी शक्ति और प्रयोग के आधार पर दो भेद किए जाते हैं, १. जीवित भाषा, जैसे-हिंदी, अँगरेजी-फ्रेंच,रशन इत्यादि। २. मृत भाषा, जैसे — हिट्टाइट (हित्ती) । भ्रमवश संस्कृत, पालि, प्राकृत इत्यादि भाषाओं को भी मृत भाषा कहा जाता है। यह गलत है। वह कोई भी भाषा, जिसमें आज भी रचना की जा सकती हो तथा परस्पर-संभाषण किया जा सकता हो, वह मृत

नहीं है। इस पद्धति पर संस्कृत प्राणवती भाषा है। पालि और प्राकृत को मृतभाषा के समकक्ष माना जा सकता है। पूर्णतः इसे भी मृत भाषा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भाषा सामान्य अर्थ में मनुष्य की उस चेष्टा को कहते हैं, जिससे वह उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चरित शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करता है। संसार की भाषाएँ लगभग तीन हजार हैं, जो बारह कुलों में विभक्त हैं। कुलों की संख्या अट्ठारह तक मानी गई है।

प्रत्येक भाषा की अपनी उपभाषाएँ या बोलियाँ हुआ करती हैं। बोली को ही जनपदीय भाषा, आंचलिक भाषा, विभाषा अथवा उपभाषा कहते हैं। इनका कोई कठोर व्याकरण नहीं होता। जनजिह्वा और जनप्रयोग ही इनका व्याकरण और शास्त्र होता है। कालांतर में बोलियाँ भाषा का रूप भी धारण कर लेती हैं।

आदर्श भाषा को प्रतिमित, परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषा की संज्ञा देते हैं। यह भाषा व्याकरण के नियमों से निबद्ध होती है। इसमें विस्तार और व्यापकता होती है। यह दूसरी बात है कि प्रतिमित भाषा में भी प्रयोग और शैली की एकरूपता उपलब्ध नहीं होती। उदाहरण के लिए उर्दूनिष्ठ हिंदी, संस्कृतनिष्ठ हिंदी और उभयनिष्ठ हिंदी—तीनों ही हिंदी के प्रतिमित रूप हैं। किंतु तीनों की शैली में अंतर है।

भाषा ही किसी देश की राजभाषा का रूप ग्रहण कर सकती है, उपभाषा नहीं। प्राचीनकाल में संस्कृत भारत की राजभाषा थी। मध्यकाल में फारसी से राज-भाषा का काम लिया जाता था और आधुनिककाल में अँगरेजी ही भारत की राजभाषा थी। स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी को सहचरी राजभाषा के रूप में स्थान मिला है।

बोली को तभीतक बोली कहा जाता है जबतक— १. साहित्य, धर्म और राजनीति तथा व्यापार के आधार पर उसे महत्त्व न प्राप्त हो, और २. जबतक पड़ोसी बोलियों से उसे पृथक् करनेवाली उसकी अपनी विशेषताएँ इतनी न विकसित हो जाएँ कि दूसरे उसे समझ न सकें। [इन दोनों तत्त्वों में किसी

एक के अभाव से बोली भाषा बनने लग जाती है।] हिंदी, रूसी, फ्रेंच, जर्मन इत्यादि भाषाएँ भाषा के पूर्व बोली ही रही होंगी।

भाषा और बोली का भेद इत्थंविध है,—

१. भाषा का दायरा व्यापक होता है, जबकि बोली का सीमित। यह भौगोलिक परिसीमा भाषा और बोली के अंतर का महत्त्वपूर्ण नियामक तत्त्व है।

२. एक भाषा में विभिन्न बोलियाँ हो सकती हैं। एक बोली में विभिन्न भाषाएँ नहीं हो सकतीं।

३. एक भाषा की जितनी बोलियाँ होती हैं, उनके बोलनेवाले परस्पर एक दूसरे की बोली को प्रायः समझ लेते हैं। किंतु विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाले परस्पर एक-दूसरे को नहीं समझ पाते। निष्कर्ष यह कि एक भाषा की बोलियों में परस्पर बोधगम्यता बनी रहती है, जबकि दो भाषाएँ परस्पर अबोध्य होती हैं।

४. भाषा का स्वरूप मौखिक और लिखित दोनों रूपों में मिलता है, जबकि बोली प्रायः अलिखित ही होती है।

५. भाषा में धीरे-धीरे सम्मार्जन होते रहने के कारण एक शिष्टता Sophistication) आ जाती है, जिसे कृत्रिमता भी कहा जा सकता है। बोली में सहजता और ऋजुता होती है, इसीलिए उसे अकृत्रिम और स्वाभाविक भी कहा जाता है। संस्कृत को भाषा और प्राकृत को बोली इसी पद्धति पर कहा जाता है। संस्कार-सम्मार्जन के कारण संस्कृत भाषा है और प्राकृतिकता-सहजता के कारण प्राकृत बोली।

६. बोली विकसित-संवर्धित होकर भाषा का रूप धारण कर सकती है, किंतु भाषा अवरुद्ध होकर बोली नहीं बन सकती, मृत हो जा सकती है।

७. भाषा का प्रयोग व्यवहार कौशल, शिक्षा, शासन, साहित्यरचना और शास्त्रीय चिंतन के लिए होता है, किंतु बोली दैनंदिन व्यवहार के लिए ही प्रयुक्त होती है। कभी-कभी बोलियों में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हो जाती हैं,

जिनके कारण उन बोलियों का भाषावत् महत्व हो जाता है और उन रचनाओं का महत्त्व भी साहित्यिक धरातल पर स्वीकार कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए मैथिली में विद्यापति की पदावली, अवधी में तुलसीदास का 'रामचरित मानस' और ब्रजभाषा में 'सूरसागर'। बोलियों में की गई इन रचनाओं का साहित्यिक महत्त्व हो गया।

८. परंपरा के आधार पर भाषा और बोली का एक और अंतर प्रस्तुत किया जा सकता है। संस्कृत नाटकों में सामान्य रूप से यह परंपरा रही है कि सेवक, परिजन इत्यादि और स्त्रियाँ प्राकृत में बोलें और शेष पुरुष-वर्ग संस्कृत में। इस प्रतिमान पर भाषा और बोली का अंतर अभिजात और अनभिजात वर्ग का सिद्ध होता है। यहाँ एक आपत्ति यह उठ खड़ी हो सकती है कि स्त्रियों को भी अनभिजात वर्ग में क्यों रखा गया। नारियों के अनभिजात होने के परंपरागत कारण मिल सकते हैं, किंतु उनके प्राकृत बोलने के कारणों का अनुसंधान इतर पृष्ठभूमि पर भी किया जा सकता है। प्राकृत में सहजता, मृदुलता और सहृदयता होती है, इसलिए भी नारियों के लिए प्राकृत उपयुक्त मानी गयी, क्योंकि ये उनके भी स्वाभाविक गुण हैं।

९. बोली प्राग्भूत होती है, भाषा उत्तर-परिणाम। कालिक दृष्टि से यह अंतर पौर्वापौर्य का है।

भाषा और बोली में उपर्युक्त पार्थक्य के अतिरिक्त संबंध अथवा साम्य भी है,—

१. बोली का विकसित रूप ही भाषा है। भाषा का स्वरूप ग्रहण कर भी भाषा अपनी क्षेत्रीय बोलियों से जीवनी शक्ति प्राप्त करती रहती है। इसका प्रमाण संस्कृत-प्राकृत के परस्परावलंबन में मिलता है। आधुनिक काल में परिनिष्ठित हिंदी अपनी जनपदीय बोलियों से भी जीवनी-शक्ति प्राप्त कर रही है। उदाहरण के लिए उपन्यासों की एक विधा आंचलिक उपन्यास इन्हीं बोलियों के सहारे निर्मित है। कविता के क्षेत्र में भी लोकतत्त्व और लोकचेतना का भूयिष्ठ प्रभाव द्रष्टव्य है। लोकनाट्य, लोकगीत इत्यादि बोलियों से प्रभावित साहित्य-तत्त्व हैं। बोलियाँ भाषा के लिए Raw material का काम करती हैं। इसलिए वे भाषा के लिए अनिवार्य हैं। भाषा भी बोलियों के लिए उनको समृद्ध करने की दृष्टि से सहायक होती है।

२. भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भाषा और बोली में अंतर नहीं माना गया है। इस मान्यताकी पुष्टि अनेक विद्वानों से होती है,—

To the linguist there is no real difference between a 'dialect' and a 'language' which can be shown to be related, however remotely to another language.

—Edward Sapir

× × ×

It is impossible to draw exact lines of demarcation between either dialects or languages.

—L. H. Gray.

× × ×

There is no intrinsic difference between language and dialect.

Mario Pei

× × ×

"भाषा और विभाषा व्यावहारिक से अधिक सैद्धांतिक नाम हैं। भाषा और बोली का अंतर प्रकार का नहीं, केवल मात्रा का है।"

—आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा

बोलियाँ कालांतर में भाषा का रूप धारण करती चली जाती हैं। यह रूपांतर विविध प्रकार के संबंध और संपर्क के आधार पर होता है। यहाँ ऐसे कुछ संपर्क-सूत्रों का उल्लेख आवश्यक है, जिनके कारण बोलियाँ भाषा बन जाती हैं,—

१. **प्राकृतिक**—नदी, पर्वत, जंगल, मरुभूमि इत्यादि भाषा-समुदाय के परस्पर संपर्क में प्राकृतिक अवरोध के रूप में हैं। इन लघु परिसीमाओं में बँधी भाषाएँ विकसित नहीं होकर बोली बनी रह जाती हैं। जैसे-जैसे ये प्राकृतिक अवरोध टूटते हैं, एक जनपदीय भाषा का संबंध दूसरी जनपदीय भाषा से होने लगता है। और इस प्रभाव-प्रक्रम में बोली भाषा बनने लगती है।

२. **सामाजिक**—सामाजिक संपर्क के कारण बोलियों की सीमा लघुतर है और भाषाओं की बृहत्तर होती है।

३. **धार्मिक**—धार्मिक कारणों से भाषा का प्रसार होता है। संस्कृत इसका उदाहरण है।

४. **साहित्यिक**—भाषा के निर्माण का साधन है साहित्य। जब बोलियों में प्रचुर साहित्य का सर्जन हो जाता है तब उनकी गणना साहित्य में होने लगती है।

५. **राजनीतिक**—राजनीतिक कारणों से भाषा का प्रसार होता है और विभाषाएँ भाषा का रूप धारण करती हैं। फ्रेंच अँगरेजी से समृद्धतर साहित्य की भाषा है, किंतु अंतरराष्ट्रीय रंगमंच पर अँगरेजी का अधिक प्रसार राजनीतिक कारणों से ही हुआ।

६. **शैक्षिक**—शिक्षा के प्रचार के कारण बोलियों का भेद कम होता है और भाषा में विकास होता है। बोलियों को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता।

७. **आर्थिक**—आर्थिक, व्यावसायिक कारणों से भी बोलियाँ क्षीणतर और भाषाएँ समृद्धतर होती जाती हैं।

८. **वैज्ञानिक**—बोलियों की लघु सीमाएँ समाप्त करने में विज्ञान को ही प्राग्रता प्राप्त है। भाषा-विकास और भाषा-प्रचार में विज्ञान का योगदान महत्त्व-पूर्ण है। यातायात की सुविधा, समाचार-पत्र, पुस्तक-प्रकाशन, रेडियो, चित्रपट, टेलिविजन, टेलिफोन इत्यादि वैज्ञानिक साधनों से भाषिक भेद मिटता है और भाषा में एकरूपता एवं प्रतिमिति आती है।

९. यात्रिक पर्यटन से दृष्टि में विस्तार मिलता है और वाक्य-विन्यास में संस्कार आता है। तीर्थाटन, देशाटन से भी विभाषा भाषा-संस्कार प्राप्त करती है।

बोलियों की कई दुर्बलताएँ मानी गई हैं,—

१. इससे साहित्य और व्यवहार में ग्राम्यता आती है।
२. इससे पार्थक्य-भावना पनपती है।
३. इससे वर्ग-भावना बढ़ती है।
४. इसके कारण व्यक्ति की अभिव्यंजना सीमित रह जाती है।

व्यक्ति और समाज इन दो इकाइयों का प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है। व्यक्ति की प्रवृत्ति केंद्रापगामी होती है और समाज का स्वभाव केंद्राभिगामी।

केंद्रापगामी वृत्ति में पृथक्ता की भावना रहती है, जबकि केंद्राभिगामी वृत्ति में एकता की भावना। व्यक्ति अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार भाषा को व्यवस्थित करता है, परंतु समाज उसकी वृत्ति पर नियंत्रण लगाता है।

हिंदी भाषा की बोलियों के अंतर्गत भोजपुरी, मगही, मैथिली, वज्जिका अंगिका, अवधी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, बघेली, बुंदेली, बाँगरू, राजस्थानी इत्यादि प्रमुख हैं। इन बोलियों में अनेक का साहित्यिक महत्त्व है। अवधी और ब्रज-भाषा का साहित्यिक महत्त्व किसी भी भाषा से कम नहीं। मैथिली अब प्रायः भाषा बन गई है। भोजपुरी भी विकास की प्रक्रिया में है।

अपभाषा

प्रत्येक भाषा में अपभाषा (Slang) का प्रयोग होता है। अपशब्द और ग्राम्य शब्द भी अपभाषा की परिधि में ही आते हैं। परिनिष्ठित भाषा में इन्हें अशोभन भाषा की संज्ञा दी जाती है। कभी-कभी शोभन शब्द भी कालांतर में परिस्थितिवश अशोभन बन जाते हैं। 'देवानांप्रिय' शब्द का अर्थ शोभन है, देवताओं का प्रिय, किन्तु सम्राट् अशोक के प्रति उनके बौद्धधर्मावलंबी होने के कारण सनातनियों ने सम्राट् के इस विशेषण को 'मूर्ख' का पर्याय बना दिया। 'महापंडित' भी 'महामूर्ख' का पर्याय व्यंग्य के कारण विहित है।

समाज में तथाकथित नीच कर्म करनेवाले व्यक्तियों की उच्चाति उच्च नाम देने की प्रथा रही है। 'हलखोर' शब्द 'हलालखोर' का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ 'कृतज्ञ' होता है। इसी प्रकार 'मेहतर' 'महत्तर' का और 'महतो' 'महत्' का अपभ्रंश है।

'आवारा' शब्द आज अपने तत्सम का अर्थगौरव खो चुका है। 'यायावर' का अर्थ 'यात्री' होता है। इसी यायावर का अपभ्रंश 'आवारा' शब्द आज दुर्विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है।

गालियों में 'लंगा-लुच्चा' शब्द अपने प्रयोग पर आज मार पीट करा देने का अर्थ रखता है, किन्तु कभी यह शब्द बड़ा ही पवित्र और अर्थगौरवपूर्ण था। बौद्धों में लुंचित अर्थात्, केश नुचवा लेनेवाला व्यक्ति बड़ा साधक समझा जाता था। जैनों की एक शाखा 'दिगंबर' प्रसिद्ध-प्रतिष्ठित रही है। जो लुंचित और नग्न (दिगंबर) होता था, उसे नग्न-लुंचित का सम्मान-सूचक विशेषण दिया जाता था। इस विशेषण से संबोधित होता हुआ बौद्ध गौरवबोध करता था। इसी 'नग्न-लुंचित' समस्त-पद का अपभ्रंश 'लंगालुच्चा' आज विपरीतार्थक हो गया है। अपनी समग्र सम्मान-सूचकता छोड़कर यह शब्द अपमान-सूचक बन गया है। आज की हिन्दी में किसी को भी इन शब्दों का संबोधन भारी अपमानजनक मालूम पड़ सकता है।

अँगरेजी का टेस्टामेंट (Testament), टेस्टिफाई (Testify) इत्यादि शब्द टेस्टिक्ल (अंडकोश—Testicles) से निष्पन्न हैं। यहूदियों में अंड-कोश पर हाथ रखकर पवित्रातिपवित्र शपथ खाने की प्रथा थी। इसी आधार पर टेस्टामेंट, टेस्टिफाई इत्यादि शब्द बने।

किसी व्यक्ति या राष्ट्र के प्रति शत्रुता रहने पर घृणा दिखाने की प्रक्रिया में कुछ शब्दों का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए फ्रेंच बाथ, फ्रेंच लीव, फ्रेंच लेदर इत्यादि शब्द। इंगलैंड और फ्रांस में परस्पर राष्ट्रीय विरोध के कारण अँगरेजी में फ्रांसीसियों के प्रति घृणा व्यक्त करने के क्रम में फ्रेंच लीव (बिना सूचना के अवकाश पर रहना), फ्रेंच वाथ (काक-स्नान करना), फ्रेंच लेदर (रतिक्रीड़ा में कृत्रिम शिश्नावरण, जो आनंदावरोधक भी माना जाता है) इत्यादि शब्द बने : फ्रेंच भाषा में भी इंगलिश लीव, इंगलिश बाथ, इंगलिश लेदर उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होनेवाले अपशब्द हैं, किन्तु फ्रेंच शब्दों का प्रचार भारत में इसलिए नहीं हो सका, क्योंकि यहाँ अँगरेजों का उपनिवेश साम्राज्य-रूप में स्थापित था।

हिन्दी में अँगरेजों के प्रति घृणाभाव व्यक्त करने के लिए 'लंडन' जाने का अर्थ 'पाखाना जाना' समझा जाता था। आज 'पाकिस्तान जाना' अथवा 'चीन जाना' अभिव्यक्ति भी उसी घृणा का बोधक है।

शब्दशक्ति के लक्षणा और व्यंजनादि प्रयोग के आधार पर भी अपशब्द का निर्माण होता है। गधा को गधा कहना शिष्ट अभिव्यक्ति है, किन्तु मनुष्य को गधा कहना गाली और अपमान हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्थितियों में मनुष्य को ही सूगर, उल्लू, बैल, खच्चर (वर्णसंकर पशु) इत्यादि कहना अपभाषांतर्गत है।

व्यक्ति का महत्तम आभूषण उसका शील है। इसीलिए निश्शीलता-सूचक कोई भी विशेषण मनुष्य के लिए गाली हैं। जैसे, वेहया (बे + हया—बिना हया (लज्जा) के), बेहूदा (बे + हूदा—बिना हूदा (शील) के), निर्लज्ज, दु:शील, इत्यादि।

मनुष्य के लिए अघी (पापी), पापी, कमीना, बदमाश, शैतान, बेवकूफ, नालायक, पशु इत्यादि अपशब्द हैं।

देश और काल के अनुसार अपशब्द, अपभाषा और गाली की मान्यता और आधार में परिवर्तन होता रहता है।

यौन एवं मल-मूत्रादि सूचक अप्रभ्रंश शब्दों का व्यवहार ग्राम्य (Vulagar) माना जाता है। इसी प्रकार प्रचलित सामाजिक मूल्यों को अतिक्रांत करनेवाली अश्लीलता (Obscenity) और नग्नयौनवर्णनपूर्ण वेश्यावृत्तादि—'गंदा साहित्य' (Pornography) के रूप में स्वीकृत है, और यह सब व्यापक दृष्टि से अपभाषा के अंतर्गत परिगण्य है।

अपभाषा का इतिहास भाषा के इतिहास के समानांतर है। अपशब्द का इतिहास भी शब्द के इतिहास के साथ ही शुरू हुआ। प्रेम के साथ घृणा का भाव जैसे शाश्वत-सनातन है, वैसे ही शब्द और अपशब्द एवं भाषा और अपभाषा का इतिहास समानांतर-रूप से शुरू होता है। 'अपभाषा' भाषा की भाष्यता को निषेधात्मक रूप से समृद्ध करनेवाला अनिवार्य तत्त्व है।

कोश

संस्कृत में 'कोश' और 'कोष' शब्द परस्पर-पर्याय हैं। 'कोश' में 'कुश्' धातु है,—कुश्यते संश्लिष्यते इति कोशः, कुश्-संश्लेषणे। इसी प्रकार 'कोष' में 'कुष्' धातु है,—कुष्यते आकृष्यते इति कोषः, कुष्-निष्कर्षे। 'कुश्' और 'कुष्' दोनों धातुओं में 'घञ्' प्रत्यय संयुक्त होने से 'कोश' और 'कोष' शब्द बनते हैं। हिन्दी-संस्कृत में कोश (कोष) शब्द के अनेक अर्थ हैं,—आगार, आकर, भांडार, खजाना, अभिधान, शब्दकोश, खड्गपिधान (म्यान), कृमिनीड, अण्ड, दिव्य, धनसंहति, अर्थसंग्रह, हेमरूप्य, हिरण्य, आवरणविशेष, मुकुल, पात्र, पुस्तक, जातीकोष (जायफल), शब्दादिसंग्रह, अर्थसमूह, भांडागार, पानपात्रचषक, योनि, शिंबा, पनसादिफलस्यांत, शब्दांतर-संयोग-गोलकवाचक, वारिवाह, अरंध्र, रंध्र, शस्त्र, कुड्मल इत्यादि।

हिन्दी-संस्कृत में कोश (कोष) का अर्थ मुख्य रूप से तीन हो गया है—शब्दसंग्रह (शब्दकोष), अर्थसंग्रह या खजाना (राजकोश) और आवरण (पद्मकोश)। शब्दसंग्रह के पर्याय-रूप में संस्कृत में कोश, कोष, निधि और अभिधान शब्द हैं। विभिन्न भाषाओं (विदेशी) में 'कोश' (शब्द-संग्रह) के प्रतिशब्द इस प्रकार हैं,—Dictionary (English), Dictionnaire (French), Diccionario (Spanish), Dizionario (Italian), Dicionario (Portuguese), Dictionar (Rumanian), Worterbuch (German), Woordenboek (Dutch), Ordbok (Swedish), Ordboy (Danish), Ordbok (Norwegian), slownik (Polish), Slovnik (Czech), Recnik (Serbo-croat), Szotar (Hungarion), Sanakirja (Finnish), Lugat (Turkish), Kamus (Indonesian), Vor'taro (Esperanto), Slavar (Russian), Lexikon (Greek), Qamous (Arabic), Milon (Hebrew), Verterbuch (Yiddish), Jiten (Japanese), Kamusi (Swahili)।

ऋग्वेद में कोष का प्रयोग पानी निकालने की बाल्टी (१·१३०·२) तथा सोम-चषक (६·७५·३) के अर्थ में हुआ है। 'कोश' का प्रयोग वैदिक संस्कृत में और 'कोष' का प्रयोग लौकिक संस्कृत में आरंभ हुआ। सामान्य प्रयोग की दृष्टि से 'कोश' शब्दसंग्रह के लिए और 'कोष' अर्थसंग्रह के लिए रूढ़ हो रहा है। 'वाङ्मयार्णव' में कोश का नानार्थत्व इस प्रकार है,—

"कोशोऽस्त्री कुड्मले पात्रे दिव्ये खड्गपिधानके।
जातिकोशेऽर्थसङ्घाते पेश्यां शब्दादिसंग्रहे॥
पुस्तके वेष्टकद्रव्ये शस्त्रे प्रजननेऽपि च।
वृषणे कृमिनीडे च कौशेयप्रकृतावपि॥
कृताकृते हेमरूप्ये पद्यव्रज्यावलावपि।
अरन्ध्रे चापिरन्ध्रे च स्त्री तु कोश्यल्पकोशके॥
वारिवाहे तु न पुमानेष कोशः प्रकीर्त्तितः।"

'कोश' का प्रयोग Dictionary अथवा Lexicography के अर्थ में ही प्रचलन अधिक है।

कोश के अनेक प्रकार हैं—अक्षरकोश, शब्दकोश, ज्ञानकोश, पर्यायकोश, अनेकार्थकोश, विश्वकोश, भाषाकोश, धातुकोश, साहित्यकोश, बहुभाषा-कोश, इत्यादि। इनके अतिरिक्त कथा, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, विज्ञान इत्यादि अनेक विषयों के आश्रित कोश-निर्माण होते हैं।

भारत में कोश-निर्माण की परंपरा प्राचीन है। भारत में जो प्राचीन कोश उपलब्ध हैं, वे संस्कृत-भाषाश्रित तथा वैदिक ग्रन्थों से सम्बद्ध हैं। जिन ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों की रचना की, उन्हीं ऋषियों में कुछ ने कोश-निर्माण भी किया। पहले कोश और व्याकरण के विषय भी परस्पर संबद्ध और परस्पराश्रित थे। इसका प्रमाण यह है कि प्राचीन वैयाकरण ही कोशकार होते थे। शब्दाभिधान में कोशकर्म और व्याकरण-विवेचन—दोनों अनुग्रथित होते थे।

वैदिक कोशों में 'निघंटु' और 'निरुक्त' के नाम प्रमुख हैं। लौकिक कोशों में अमरसिंह-रचित 'अमरकोश' (नामलिंगानुशासन) का नाम सर्वोच्च है। इसपर अबतक पचास से अधिक टीकाएँ तैयार हो चुकी हैं। आधुनिक कोशों में तारानाथ तर्कवाचस्पति-कृत 'वाचस्पत्यम्', राधाकांतदेव-कृत 'शब्द-कल्पद्रुमः', विजयराजेन्द्रसूरि-कृत 'अभिधान-राजेन्द्र-कोशः' सुखानन्द नाथ-कृत 'शब्दार्थचिन्तामणि' तथा महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा द्वारा रचित 'वाङ्मयार्णवः' प्रसिद्ध, प्रामाणिक, बृहद्वपुष्क तथा विश्वकोश-स्तरीय कोशग्रन्थ हैं।

संस्कृत में अनेक कोश अब लुप्त हो चले हैं। इतर संदर्भों में उद्धरण या उल्लेख से उनके सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। इन लुप्त कोशों में प्रमुख हैं—त्रिकाण्ड (भागुरि), नाममाला (कात्यायन), शब्दकोश (वाचस्पति), शब्दकोश (विक्रमादित्य), संसारावर्त (विक्रमादित्य), उत्पलिनी (व्याडि) इत्यादि।

प्राचीन संस्कृत-कोशों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है,—समानार्थक तथा नानार्थक। समानार्थक कोश में एक शब्द के विभिन्न पर्याय एकत्र होते हैं, जिन शब्दों का अर्थ समान होता है। उदाहरण के लिए 'अमर-कोश' समानार्थक कोश है। नानार्थक कोश अर्थ-विश्लेषक होता है। समानार्थक कोश में शब्दांतर तथा नानार्थक कोश में अर्थांतर का महत्त्व होता है। वर्णानुक्रम शब्द-व्यवस्था के कोश संस्कृत में नहीं मिलते। संस्कृत-कोश प्रायः श्लोक-निबद्ध मिलते हैं। म० म० रामावतार शर्मा का महाकोश 'वाङ्मयार्णव' वैज्ञानिक पद्धति पर निर्मित विश्वविद्या-ग्रन्थ है, जिसमें नानार्थघटित तथा पर्याय-परम्परा का सम्मिश्रण, श्लोकनिबद्धता तथा वर्णानुक्रमता—एक ही साथ ये सभी कोशगुण एकत्र मिलते हैं।

आज सरकार के शिक्षाविभाग ने भी कोशनिर्माण का दायित्व लिया है। डॉ० रघुवीर का कोश तथा अनेक पारिभाषिक कोश संस्कृत की सहायता से निर्मित हो रहे हैं। इसके दो पक्ष हैं। एक तो इन कोशों से हिन्दी का कोशा-गार समृद्ध हो रहा है, दूसरे संस्कृत भी आधुनिक व्यंजना के शब्दतंत्र से समृद्ध हो रही है।

अँगरेजी के आने के बाद भारत में अँगरेजी के माध्यम से भारतीय भाषाओं के अनेक कोश तैयार होने लगे। संस्कृत-कोश निर्माण में भी वृद्धि हुई, पर उल्लेख की दृष्टि से ऐसा कुछ क्रोशशिला-कार्य नहीं हुआ।

संस्कृत में जितने कोश हैं, शायद ही किसी भाषा में हों। संस्कृत-कोश कई रूपों में मिलते हैं—एकाक्षरकोश, एकार्थकोश, द्व्यर्थिकोश, अनेकार्थकोश, शब्दकोश, पर्यायकोश, विश्वकोश, पदानुक्रमकोश इत्यादि। संस्कृत-कोशों के वैज्ञानिक वर्गीकरण तथा अनुसंधान की अभी भी अपेक्षा है। संस्कृत के कुछ कोश जो लुप्त हैं; उनकी खोज की आवश्यकता है, कुछ अप्रकाशित कोश हैं; जिनके प्रकाशन की आवश्यकता है कुछ यथातथातः प्रकाशित कोश हैं, जिनके पाठसंपादनपूर्वक पुनः प्रकाशन भी आवश्यकता है।

काम

'काम' से ही सृष्टिचक्र नियंत्रित है। काम का स्थान पुरुषार्थचतुष्टय (धर्मार्थकाममोक्ष) में भी प्रतिष्ठित है। 'काम' को 'देव' माना जाता है। कामदेव आदिदेव हैं। 'काम' आदिदेव-रूप में सबसे पहले उत्पन्न हुए—'कामस्तदग्रे समवर्त्तत।'[1] 'काम जज्ञ प्रथमो।'[2] काम ब्रह्मा के हृदय से उद्भूत हुआ,—'हृदि कामो।'[3] महादेव भी 'काम' ही हैं,—

'गणकर्त्ता गणपतिर्दिग्वासाः काम एव च।'[4]

विष्णु 'काम' हैं,—

'कामहा कामकृत् कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः।'[5]

काम ही बलदेव[6] है। काम इच्छा[7] है। काम महाराजचूत[8] है। काम कामदेव[9] है। कामश्रीकृष्ण-पुत्र[10] है। काम रेतस् है, जिसमें प्रजनन-ऊर्जा है,—

'कामः काम्यस्मरेच्छासु गुग्गुलावपि रेतसि।'[11]

काम संकल्प है, 'कामः सङ्कल्प एव हि।'[12]

काम प्रवृत्ति है,—

'श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानामात्मसंयोगेन मनसाधिष्ठितानां
स्वेषु स्वेषु विषयानुकूलतः प्रवृत्तिः काम।'[13]

अर्थात् आत्मासंयुक्त तथा मानसाधिष्ठित पंचेंद्रिय अपने-अपने विषयों में जो अनुकूल प्रवृत्ति रखती है, वही काम है।

काम आसक्ति है। जो अर्थ और काम में अनासक्त हैं, उनके लिए मनु ने धर्म का विधान किया, 'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।'[14]

चतुर्वर्ग (अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष) का सम्बन्ध मनुष्य के चतुरंग (शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा) से है। अर्थ शरीरापेक्षी है, काम मनस्तोषा-

पेक्षी है, धर्म बुद्धिविकासापेक्षी है और मोक्ष आत्मापेक्षी है। इसको व्यत्ययपूर्वक भी कहा जा सकता है,—'शरीर अर्थापेक्षी, मन कामापेक्षी है, बुद्धि धर्मापेक्षी है और आत्मा मोक्षापेक्षी है। चतुर्वर्ग और चतुरंग परस्परापेक्षी हैं। इनके परस्परावलंबन के सम्यक् ज्ञान से ही मनुष्य का शम् और विकास है।

काम से कामना बनती है। कामना ही एषणा हैं। संसार में वित्तैषणा दारैषणा और लोकैषणा इन तीन एषणाओं का विवरण है। ये तीनों भी क्रमशः अर्थ, काम और धर्म को संकेतित करते हैं। मोक्ष सभी एषणाओं का अंत है।

कामप्रवृत्ति (विषय और रमण) आदि शक्ति है। यह आदिशक्ति अनंत शक्ति है। ईश्वर को अहंबोध था—अहमस्मि। इस बोध में ऐकिकता की भावना ने उसमें दूसरे की कासना उत्पन्न की—सद्वितीयमैषत्। उसने कामना की कि मैं अनेक हो जाऊँ और प्रजनन करूँ,—

'सो कामयत वहुस्यां प्रजायेय इति।'[15]

उसकी इच्छा अनेक होकर सर्जन करने की हुई,—

'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय इति।'[16]

उसकी इच्छा लोक-सृष्टि की हुई,—

'स इक्षत लोकान्नु सृजा इति।'[17]

और फिर सृष्टि हुई। इस सृष्टि के मूल में ईश्वर की कामशक्ति ही कारणीभूत है।

एकाकी होने में आनन्द नहीं है। इसीलिए ईश्वर ने स्वयं अपने से द्वितीय की रचना की। काम दो के बीच सम्बन्ध है। काम को ही प्रवृत्ति कहा जाता है। विषय और विषयी को एकात्म करनेवाली यह प्रवृत्ति 'काम' ही है।

शैवमत के अनुसार सृष्टिमूल में शिव और शक्ति का समायोग है,—

'शिव-शक्ति-समायोगात् जायते सृष्टिकल्पना।'

शैवमत के अनुसार काम से ही सब कुछ प्रवर्तित है,—

भूता वा वर्तमाना वा अनित्या वापि सर्वशः।
कामात् सर्वे प्रवर्त्तन्ते लीयन्ते बुद्धिमागताः।

ऋग्वेद के अनुसार 'काम' ही प्रथम प्राणवान् मनोबल है,—

'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्
तसोबन्धुमसति निरविन्दन हृदि प्रतीष्याकवयो मनीषा।'[18]

काम मन का रेतस् है। इसीलिए पुरुष काममय है,—

'काममयं एवायं पुरुष'।[19]

वात्स्यायन के अनुसार काम की व्यावहारिक स्थिति इस प्रकार है,—

'स्पर्शविशेषविषयात्त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात्कामः।'[20]

अर्थात् चुंबन, आलिंगन आदि प्रासंगिक सुख के साथ कपोलादि विशेष अंगों के स्पर्श से जो आनन्द की फलवती प्रतीति होती है, वह काम है।

कामसूत्र में कामशास्त्र के सम्बन्ध में एकाधिक सूत्रों में उल्लेख है। प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न कर उसके नियमित जीवन के संविधान के लिए धर्म अर्थ और काम के साधनभूत शास्त्र का सबसे पहले एक लाख श्लोकों में प्रवचन किया,—

'प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वातासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच।'[21]

ब्रह्मा द्वारा निर्मित एक लाख अध्यायों के उस शास्त्र के धर्मविषयक भाग को स्वयंभू-पुत्र मनु ने पृथक् कर दिया—

'तस्यैकदैशिकं मनुः स्वायम्भुवो धर्माधिकारिकं पृथक् चकार।'[22]

बृहस्पति ने अर्थशास्त्र-विषयक विभाग को पृथक् कर अर्थशास्त्र बनाया-'बृहस्पतिरर्थाधिकारिकम्।'[23]

महादेव के अनुचर नन्दी ने उस शास्त्र से एक सहस्र अध्यायवाले कामसूत्र को पृथक् कर दिया,—

'महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथक् कामसूत्रं प्रोवाच।'[24]

नन्दी के उस कामसूत्र को उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया,—

'तदेव तु पञ्चभिरध्यायशतैरौद्दालकिः श्वेतकेतुः सञ्चिक्षेपः।'[25]

इसके अनन्तर पांचालदेशनिवासी बभ्रु के पुत्र ने श्वेतकेतु के पाँच सौ अध्यायों के कामसूत्र को डेढ़ सौ अध्यायों में साधारण, सांप्रयोगिक, कन्यासंप्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक तथा औपनिषदिक इन सात अधिकरणों में विभक्त कर और संक्षिप्त किया,—

'तदेव तु पुनरध्यर्धेनाध्यायशतेन साधारणसांप्रयोगिक कन्यासम्प्रयुक्तक-भार्याधिकारिक-पारदारिक-वैशिक-औपनिषदिकैः सप्तभिरधिकरणै-र्बाभ्रव्यः सञ्चिक्षेप।'[26]

फिर पाटलिपुत्र की गणिकाओं के अनुरोध पर आचार्य दत्तक ने वाभ्रव्य द्वारा संक्षेपीकृत कामशास्त्र के छठे भाग वैशिक नामक अधिकरण को पृथक् किया,

'तस्य षष्ठं वैशिकमधिकरणं पाटलिपुत्रिकाणां गणिकानां नियोगाद् दत्तकः पृथक् चकार ।'[27]

आचार्य बाभ्रव्य का मूलग्रंथ विशाल था, इसलिए जनसाधारण के लिए दुरध्येय था ।

अतः वात्स्यायन ने वाभ्रव्य के उस महान् ग्रंथ को संक्षिप्त कर कामसूत्र की रचना की,—

'तत्र तत्तकादिभिः प्रणीतानां शास्त्रावयवानामेकदेशत्वात् महदिति च बाभ्रवीयस्य दुरध्येयत्वात् संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पेन ग्रन्थेन कामसूत्रमिदं प्रणीतम् ।'[28]

'काम' धर्मार्थं के साथ वंदनीय है—'धमार्थकामेभ्यो नमः ।'[29]

काम के देव की अनुज्ञा से भुवन-मात्र भ्रमणशील है,—'भ्रमति च भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनम् ।'

फ्रायड के अधिमानसशास्त्र और वात्स्यायन के मनष्प्रवृत्ति-शास्त्र के मूल में Libido तथा काम-शक्ति परस्पर-समानार्थक हैं । अँगरेजी का Libido संस्कृत लुभ्यति और 'लुब्ध' से निष्पन्न है, ऐसा C. G. Jung ने स्वीकार किया है ।[30]

काम का अर्थ कामदेव है । कामदेव के अनेक पर्याय हैं,—मदन, मन्मथ, मार, प्रद्युम्न, मीनकेतन, कंदर्प, दर्पक, अनंग, काम, पंचशर, स्मर, शंबरारि, मनसिज, कुसुमेषु, अनन्यज, पुष्पधन्वा, रतिपति मकरध्वज, आत्मभू, ब्रहसू तथा विश्वकेतु ।[31] इन भिन्न-भिन्न नामों के निर्वाचन में 'काम' की पृथक्-पृथक् शक्तियाँ प्रच्छन्न हैं । काम की पत्नी हैं रति । रति ही आसक्ति हैं, काम्या हैं । मदन और रति के मध्य का आकर्षक काम है, आकर्षण और आसक्ति है । कामैषणा ही विश्ववासना है । वासना और कामैषणा कामशक्ति या लिबिडो है । कामशक्ति ही जिजीविषा है । काम ही काम्य (प्राप्तव्य) है । काम ही कामना है । ईश्वर ने कामना की और सृष्टि हुई । पुरुष और प्रकृति के मध्य यही काम-कामना है । ब्रह्म और जगत् के मध्य काम है । पुरुष और नारी के बीच काम का सूत्र-सम्बन्ध है । समग्र विश्व में काम का ही केतु लहराता है । वह 'विश्वकेतु' है । इस विश्वकेतु कामदेव के पचास प्रकार हैं— काम, कामद, कांत, कांतिमान्, कामग, कामचार, कामी, कामुक, कामवर्द्धन,

राम, रम, रमण, रतिनाथ, रतिप्रिय, रात्रिनाथ, रमाकांत, रममाण, निशाचर, नन्दक, नन्दन, नन्दी, नन्दपिता, पंचबाण, रतिसख, पुष्पधन्वा, महाधनु, भ्रामण, भ्रमण, भ्रममाण, भ्रमोपर, भ्रांत, भ्रामक, भृंग, भ्रांतचार, भ्रमावह, मोहन, मोहक, मोह, मोहवर्धन, मदन, मन्मथ, मातंग, मृंगनाग्रक, गायन, गीतिज, नर्त्तक, खेलक' उन्मत्तोन्मत्तक. विलास और लोमवर्धन ।[32]

काम के प्रभाव से शास्त्र बना, जिसे काम-शास्त्र कहा जाने लगा। काम-कला का अपना अलग महत्त्व है। काम को मूलस्थ रख और भी अनेक शब्द बन आए—कामकेलि, कामकूट, कामगामी, कामंगामी, कामगुण, कामचार, कामचारी, कामद, कामदा, कामदूती, कामदुधा, कामधर, कामध्वज, कामन, कामना, कामपद, कामपाल, कामप्र, कामप्रद, कामफल, कामयिता, कामरूप, कामरूपिणी, कामरूपी, कामरेखा, कामला, कामवत्, कामवान्, कामशर इत्यादि । कामलता शिश्न का पर्याय है, जबकि काममंदिर योनि का। कामशब्दाश्रित और भी आनेक शब्द बने —-- कामवती, कामवल्लभ, कामवृद्धि, कामवृंता, कामवृक्ष, कामशर, कामाख्या, कामांकुश, कामांग, कामातुर कामांध, कामायु, कामायुध, कामारण्य, कामायनी, कामावसायिता, कामि, कामिनी, कामिनीश, कामी, कामुका, कामुकी, कामेश्वर, कामेश्वरी, कामोदक, कामोदा इत्यादि । इन शब्दों में काम के भिन्नार्थ घटित हुए हैं।

काम की अवस्थिति आलंबन-उद्दीपन दोनों रूपों में नारी में विशेषत: मानी गई है। नारी के सहस्राधिक प्रतिशब्दों में सर्वत्र न्यूनाधिक काम-भावना स्पंदित है। जिसमें रमण किया जाए वह रमणी है। जिसमें पुरुष गमन करते हैं, वह ग्ना है। जिसमें शुक्रशोणित की स्थापना हो, वह स्त्री है (सत्यायत शुक्रशोणिते यस्याम्) । जो पुरुष से चिपके वह, योषा है। जो आनन्द (कामानन्द) प्राप्त करे-कराये वह नारी है (नृणाति प्रापयति आनन्दमिति) । इनके अतिरिक्त विशेषण शब्दों में भी नारी में अंगांगों की कमनीयता और कामापन्नता प्रकट होती है। नारी के प्राय: प्रत्येक अंग के आधार वर नाम हैं– सुन्दर केशोंवाली—सुकेशी, सुन्दर आँखोंवाली—सुनयना, सुन्दर मुख-वाली—सुमुखी, सुन्दर भग (योनि) वाली—सुभगा । इनके अतिरिक्त नितंबिनी, सुभाषिणी, सुलक्षणा इत्यादि नाम भी अलग-अलग महत्त्व रखते हैं।

साहित्य की आत्मा रस है। रसों में सम्राट् शृंगार है। इसीलिए शृंगार रसराज है। साहित्य का सर्वांश सौंदर्य (Esthetic) के आश्रित है और नारी

सौंदर्य की अधिष्ठात्री तथा प्रतिमूर्त्ति समझी जाती है। इसीलिए किसी भी साहित्य का अधिकांश नारी-सौंदर्य के विभिन्न पक्षों के उद्घाटन में लिखित है। नारी के साथ काम का तात्कालिक सम्बन्ध है। इस श्रृंखला-स्थापन से यह सिद्ध है कि साहित्य में 'काम' की महत्ता है।

काम-वर्णन के क्रम में अश्लीलता (obscenity) और गन्दा साहित्य (Pornography) की चर्चा होती है। मैं साहित्य में अश्लीलता को स्वीकार नहीं करता। नैतिकता (Morality) के नाम पर ही अश्लीलता का उल्लेख किया जाता है. किन्तु साहित्य में नैतिकता नाम की चीज भी स्वीकारणीय नहीं समझी जाती। Higher the art, fewer the morals'[33] का सिद्धान्त सर्वमान्य सिद्ध है। काम-वर्णन अश्लीलता है तो कालिदास का मेघदूत, जयदेव का गीतगोविन्द और ऐसी अनेक रचनाओं के साथ वेद भी अश्लील है। यजुर्वेद का वर्णन—

'योनिरुदूखलं शिश्नमूषलम्'[34] अश्वघोष का वर्णन 'पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा'[35] और कालिदास का वर्णन, 'विवृतजघनां को विहातुं समर्थः' भी अश्लीलता की आख्या का अपेक्षी है। निष्कर्षतः अश्लीलता साहित्य में बेमानी चीज है। 'काम' और यौन' के प्रति दृष्टिकोण में स्वास्थ्य है तो इनमें कुछ भी तिरस्करणीय अथवा प्रणिषेधार्ह नहीं। 'काम' को 'सर्वफलप्रद' माना गया है :—

अनङ्गे नावलासङ्गाज्जिता येन जगत्त्रयो।
स चित्रचरितः कामः सर्वकामप्रदोऽस्तुवः॥

अर्थात् कामदेव नारी से संयुक्त होकर तीनों लोकों को जीतनेवाले हैं। उनका चरित्र वैचित्र्यपूर्ण है। वे हमारे लिए सभी फलों को देनेवाले हैं।

'काम' की उदात्त अभिव्यक्ति प्रेम है। प्रेम-श्रृंगार का प्राण है। श्रृंगार रसों में सम्राट् है। रस साहित्य और जीवन का निष्यंदित निष्कर्ष है। रस का लक्ष्य आनन्द है। इसी आनन्द के वशीभूत होकर ईश्वर ने सृष्टि की। तैत्तिरीयोऽपनिषद् आनन्द से ही भूतों की उत्पत्ति हुई। आनन्द से ही उत्पन्न सभी वस्तु और जीव-समुदाय जीवित रहते हैं और अतंतोगत्वा आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं। आनन्द ही सब कुछ है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।[36]

और इस आनन्द का एकमात्र आश्रय है 'उपस्थ'—

'सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम् ।'[37]

काम' से ही समस्त सृष्टिचक्र संचालित है । जीव से लेकर ब्रह्म तक काम-निबद्ध हैं ।

---

१. अथर्ववेद : १६।५२।१
२. अथर्ववेद : ६।२।१६
३. श्रीभागवत
४. महाभारत : १३।१७।४१
५. महाभारत : १३।१४६।४५
६. शब्दरत्नावली
७. हेमचन्द्र
८. राजनिघ ंट
९. (क) रघुवंश
   (ख) कामशास्त्र
१०. शब्दकल्पद्रुम
११ वाङ्मयार्णव : १२७३
१२. शिवपुराण
१३. वात्स्यायन-कामसूत्र
१४. मनुस्मृति
१५. तैत्तिरीयोपनिषद् : २।३
१६. छांदोग्योपनिषद् : ३।२।६
१७. ऐतरेयोपनिषद् : १।३
१८. ऋग्वेद : १०।११६।४
१९. बृहदारण्यकोपनिषद्
२०. कामसूत्रः वात्स्यायन : १।२।१२
२१. कामसूत्र : वात्स्यायन : ११।५
२२. उपरिवत् : १।१।६
२३. उपरिवत् १।१।७
२४. उपरिवत् : १।१।८
२५. उपरिवत् : १।१।९
२६ उपरिवत् : १।१।१०

२७. उपरिवत् : १।१।११
२८. उपरिवत् : १।१।१४
२९. वात्स्यान-काम सूत्र
30. The Psychology of Unconscious : C. G. Jung
Page 76
३१. अमरकोष : १।१।२६-२७
३२. शब्दकल्पद्रुम
33. Aldous Huxley : Antic Hay
३४. यजुर्वेद
३५. सौंदरनंदकाव्य : अश्वघोष : ४/४७
३६. तैत्तिरीयोपनिषद् : अनुवाक् ३
३७- बृहदारण्यकोपनिषद् : २/४/११

गो

'गो' शब्द भारतीय वाङ्मय तथा संस्कृति के कतिपय मूलाधार शब्दों में एक है। वैदिक काल से आज तक इस शब्द की महाव्याप्ति अस्तित्व में है। भारतीय वाङ्मय में— ऐसे अनेकार्थी तथा सारगर्भ शब्द संख्याल्प ही होंगे। प्रस्तुत निबन्ध, 'गो' शब्द का ऐतिह्य के अनुषंग में, अनेकार्थ-निर्वचन प्रस्तुत करने का संक्षिप्त प्रयत्न है।

'गो' शब्द 'गम्' धातु में 'डोः' प्रत्यय संयुक्त होने से निष्पन्न हुआ है,— गमेर्डोः—उणा. २।६७ 'गम्' को संस्कृत की सर्वाधिक अर्थवान् धातु मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। विश्व तथा वाङ्मय दोनों की क्रियाशीलता-परिवर्त्तनशीलता को यह धातु धारण और व्यक्त करती है। अतः 'गो' शब्द अव्याहत व्यापार-शक्ति की धातु 'गम्' से व्युत्पन्न होने के कारण भी महत्त्व-पूर्ण है। 'गो' तथा 'गौः' दोनों ही एकार्थवाची हैं। अष्टाध्यायी के सूत्र 'गोतो-णित्'—७।१।९० के अनुकूल 'गो' का वृद्धि-रूप गौः है। 'गो' शब्द के कर्त्ता-कारक एकवचन में 'सु' विभक्ति' लगते से 'गोस्' (गोः) शब्द बना। इस दशा में प्रकृत सूत्र सर्वनामस्थान प्रत्यय 'सु' णिद्वत्' हुआ; क्योंकि यह ओकारांत 'गो' शब्द से विहित है। णिद्वत् होने पर 'अचो ञ्णिति'— ७।२।११५ पाणिनीय सूत्र के अनुसार अन्तिम 'ओ' की 'औ' में वृद्धि हो गई।

प्रातिपदिक स्वरूप 'गो' में 'सु' प्रत्यय के जुटने पर प्रकृति और प्रत्यय परस्पर संयोग की प्रक्रिया के रूप में एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। प्रत्यय में वह विकार णिद्वद्भाव के रूप में तथा प्रकृति में तत्प्रभावित वृद्धि के रूप में होता है (गोतो णित्' ७।१।९० पा०)।

इस प्रकार 'गौः' शब्द निष्पन्न हुआ। 'गोः' शब्द 'गौः' के पर्याय में अशुद्ध माना जाएगा, क्योंकि 'गौः' के शब्द-रूप में पंचमी तथा षष्ठी विभक्तियों के एकवचन में 'गोः' (ङसिङसोश्च) ऐसा रूप होता है। अतएव परस्पर-पर्याय में 'गो' और 'गौः' ही हैं।

'गो' (गौः) शब्द के अनेक अर्थ किए जाते हैं। यहाँ तक कि यह शब्द तीनों लिंगों में प्रयुक्त मिलता है। संस्कृत में त्रिलिंगों में इसके कुछ अर्थ हैं,—गाय, रश्मि, किरण, इन्द्रिय, वाणी, सरस्वती, अक्षि, वृषराशि, पृथ्वी, माता, जिह्वा, अनड्वान (बैल, साँढ़), पशु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, बाण, जल, स्वर्ग, वज्र, हीरा, शब्द, लोम, यज्ञ, गायक. नौ का अंक, स्तोत्र, क्रतु इत्यादि। इनमें भी अनेक शब्द बह्वर्थी हैं। उदाहरणतः 'क्रतु' शब्द की अर्थव्याप्ति व्यापक है। इसके संकल्प, एक प्रजापति, विष्णु, इन्द्रिय, योग्यता, प्रज्ञा, विवेक, आषाढ़ मास, इच्छा, प्रेरणा, देव-स्तवन, प्रेमाधिक्य, यज्ञ इत्यादि अनेकार्थ हैं। इनमें यज्ञ इसका प्रमुख तथा प्रचलित अर्थ स्वीकृत है और विशेषतः अश्वमेध यज्ञ। यजुर्वेद—१८।२८ में एक मन्त्र है—'वाजाय स्वाहा, क्रतवे स्वाहा, वसवे स्वाहा'। वहीं 'क्रतु' का अर्थ आषाढ़ भी आया है,—'क्रतवे यागरूपाय चातुर्मास्यादियागप्राचुर्यात् क्रतुराषाढः।' मनु ने क्रतु को यज्ञार्थ में ही ग्रहण किया है—

'यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैरा प्रदक्षिणैः'[1]

'मेदिनी' के अनुसार सप्तर्षि के अंतर्गत 'क्रतु' एक ब्रह्म-मानस-पुत्र मुनि-विशेष हैं। महाभारत में भी 'क्रतु' एक ऋषि-विशेष हैं,—

"ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।"[2]

अतः गो (गौः) शब्द के अनेकार्थ हैं और उन अर्थों के भी अनेकार्थ 'गमेर्डो' उणादिसूत्र से बने 'गौः' के अर्थों की व्याख्या है।

'गौर्नादित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः। स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि। नृस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु।'

यहाँ गौः के कुछ मुख्य अर्थों पर विचार प्रस्तुत है,—

(१) गौः (गो) का एक प्रधान अर्थ 'पृथ्वी' है। पृथ्वी के पर्यायवाची शब्दों में 'गौः' का वैज्ञानिक महत्त्व है। 'गच्छतीति गौः अर्थात् जो गतिशील है, वह गौः है। पृथ्वी स्थिर नहीं है। पृथ्वी की गतिशीलता का प्रत्यभिज्ञान पाश्चात्यों ने मध्ययुग में किया। पृथ्वी को गतिशील कहने के कारण गैलिलियो को प्राणदंड भी मिला और भारतीय वाङ्मय में यह शब्द सहस्रों वर्ष प्राचीन है। वेदपुराणादि से लेकर काव्यग्रंथों तक इसका ऐसा प्रयोग है। दूसरे प्रकार से परिभाषा करने पर भी इसका अर्थ पृथ्वी है,—'गम्यते व्रज्यतेऽस्यामिति'—

(अधिकरणे डोः)—अर्थात् जिस पर गमन-संसरण किया जाए। महाकवि कालि-दास ने गौः का पृथ्वी के अर्थ में प्रयोग इस प्रकार किया है,—

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवादिवम्
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्।[3]

शब्द वस्तु अथवा भाव का प्रतिनिधित्व करता है। संस्कृत शब्दों में बहुसंख्यक ऐसे हैं, जो वस्तु अथवा भाव का समग्र विवेचन तथा स्वरूप अपनी व्युत्पत्ति में ही रखते हैं। गौः ऐसा ही एक व्युत्पत्त्यर्थक शब्द है। गौः एक भौतिक पदार्थ है, जिसकी भौगोलिकता (वर्तुलाकार भू का धर्म) में गतिशीलता शब्दतः प्रमाणित है। इस भूगोल पर अध्यासीन जैव परिवेश को 'संसार' कहा गया है। 'संसार' शब्द में भी संसरण-परिवर्तन का भाव विन्यस्त है—सम्+सृ+घञ्। 'जगत्' भी शब्दतः गत्यर्थक है। सबके मूल में अपने अक्ष पर सतत गतिशील 'गौः' (पृथ्वी) ही है।

(२) गौः (गो) का दूसरा प्रसिद्ध अर्थ है, 'स्वर्ग'। 'गम्यते कर्म्मिभिः यज्ञदानपरोपकारादिधर्ममूलककर्म्मफलैर्यस्मिन्—(अधिकरणे डोः)—अर्थात् मनुष्यों द्वारा किये गये यज्ञ, दान, परोपकार इत्यादि धर्ममूलक कर्मों का फल जहाँ जाय और स्वतः मनुष्य की आत्मा भी इनके आधार पर जहाँ जाय, वह 'गौः' अर्थात् स्वर्ग है। गोलोक भी स्वर्ग का ही पर्याय है।

(३) गौः (गो का एक अर्थ है, 'किरण'। 'गच्छति शीघ्रम्—(कर्त्तरि डोः) अर्थात् जिसकी गति अति शीघ्रतापूर्ण हो। वस्तुतः ज्ञेय वस्तुओं में किरण की ही गति क्षिप्रतम है। मन की बात अलग है। किरण की गति प्रति सेकण्ड एक लाख छियासी हजार मील है। दूसरे अर्थ में भी गौः किरण है,—'गम्यते' ज्ञायन्ते विषयायेन'—(करणे डोः)—अर्थात् जिसकी सहायता से वस्तुओं को देखा जा सके। केवल नेत्र से पदार्थ को देखा नहीं जा सकता, जब तक दोनों के मध्य प्रकाश का अस्तित्व न हो। यह विज्ञान-सम्मत सिद्धांत है। इस रश्मि से पृथ्वी आलोकित होती है और इसी आलोक में संसार क्रियाशील हो पाता है। महाभारत में गौः का यह रश्मि-रूप वर्णित है,—

'त्रयोदशद्वीपतीं गोभिर्भासयते महीम्
त्रयाणामपि लोकानां हितायैकः प्रवर्त्तसे।'[4]

(४) गौः (गो) का एक अन्य अर्थ है, 'चन्द्र'! 'गम्यते पुण्यवद्भिर्यस्मिन्'—(अधिकरणे डोः) अर्थात् जिस पर पुण्यवान् मनुष्य ही जा पाएँ। इष्ट्यापूर्त्ता-

दिसकामकर्म्मभिः पुण्यवताञ्चन्द्रलोकगमनात् तथात्वं—चन्द्रः। चन्द्र एक लोक ही माना गया है, जिसमें मृत्यु के अनन्तर पुण्यवान् ही पहुँच पाते हैं। आजकल चन्द्रलोक में चंद्रयान के माध्यम से सशरीर पहुँच रहें हैं, किन्तु इष्ट की प्राप्ति उन्हें ही होगी, जो पुण्यवान् होंगे, ऐसा यह निर्वचन सिद्ध करता है।

(५) गौः (गो) का एक दूसरा अर्थ है, सूर्य'। 'गच्छति प्राप्नोति विश्वं प्रकाशकात्मकेन स्वतेजसेति जानाति सर्वमिति वा'—(कर्त्तरि डोः)—जो आत्मप्रकाश से विश्व को जान सके वह गौः अर्थात् सूर्य है।

(६) गौः (गो) का एक अर्थ है, 'चक्षु'। 'गम्यते विषयज्ञानं यया'। (करणे डोः)। प्रत्यक्ष वस्तुओं का ज्ञान दो बातों पर निर्भर है। एक तो आँखों का होना, दूसरे किरण की उपस्थिति। ऊपर किरण के अर्थ में गौः की चर्चा है। गौः चक्षु का भी पर्याय है। चक्षु के बिना केवल किरणों की उपस्थिति से ही वस्तु-ज्ञान संभव नहीं है। अंतश्चक्षु अथवा दिव्य दृष्टि यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है।

(७) गौः (गो) का अर्थ 'बाण' भी है। 'गच्छति शीघ्रमिति गौः' (बाण)—(कर्त्तरि डोः)—जो शीघ्र प्रक्षिप्त हो सके या गमन कर सके।

(८) गौः (ग) का एक अन्य अर्थ 'दिशा' भी है, जो ऊपर की निष्पत्ति से प्रमाणित है।

(९) गौः (गो) का एक अर्थ है 'वाणी'। 'गम्यते ज्ञायते चित्ताभिप्रायो यया'—(करणे डोः) अर्थात् जिस माध्यम से मनोऽभिप्राय ज्ञात हो। महाकवि कालिदास ने गौः का प्रयोग वाणी के अर्थ में किया है,—

'इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य
रघोरुदारामपि गां निशम्य।'[5]

(१०) गौः (गो) का अर्थ है, 'जल'। किन्तु बहुवचन रूप में ही 'गौः' में प्रयुक्त होता है। यह मेदिनी-सम्मत विचार है। कहीं-कहीं एकवचनरूप भी गौः जलार्थ में प्रयुक्त है,—

स्वमिव भुजं गवि शेषं व्युपधाय स्वपितियो भुजङ्गविशेषम्
नव पुष्करसमकरया श्रीयोर्म्मिपंक्त्या च सेवितः समकरया'[6]

(११) गौः (गो) का एक अर्थ 'अमोघा' अर्थात् शान्तनु मुनि की पत्नी भी है, –

'सकीर्त्यां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत्
स योगी गवि भार्य्यायां विडवकसेनमधात् सुतम् ।'[7]

सामान्यतः भार्या भी इसका अर्थ किया गया है।

(१२) गौः (गो) का एक अर्थ है, 'लोम' (रोम)। 'गम्यते ज्ञायते स्पर्श-सुखमनेन' (करणे डोः)—अर्थात् जिससे स्पर्श-सुख (ज्ञान) प्राप्त हो। त्वचि जातत्वादि वास्य तथात्वम्।

(१३) गौः (गो) का अर्थ एकाक्षरकोश में 'माता' किया गया है।

(१४) गौः (गो) का एक अर्थ राजनिघंटु में 'ऋषभनामौषधः' किया गया है।

(१५) गौः (गो) का एक अर्थ मेदिनी में 'वज्र' है।

(१६) गौः (गो) का एक अर्थ है 'स्तोता'। निघंटु में यह वर्णन इस प्रकार है,—

''रेभः जरिताः कारुः नदः स्तामुः कीरिः गौः सूरिः नादः
छन्दः स्तुप् रुद्रः कृपण्युरिति त्रयोदशस्तोतृ-नामानि।''[8]

(१७) गौः (गो) का एक अति प्रसिद्ध अर्थ है 'गाय'। इस अर्थ में यह शब्द सबसे अधिक विख्यात एवं प्रयुक्त हुआ है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार—'वृषस्य यानसाधनत्वात् स्त्रीगव्या दानेन स्वर्गगमनसाधनत्वाच्च उभयोरपि दानेन स्वर्गगमनत्वाद्वा तथात्वम्' ऐसा विश्वास रहा है कि मरण-काल में गोदान से स्वर्ग प्राप्ति होती है, अतः स्वर्ग-गमन में जो साधन-स्वरूप है, वही गौः अर्थात् गाय है। 'गोदान' का अर्थ गाय का दान है। भारतीय जीवन, विश्वास एवं संस्कृति में गाय पूज्यातिपूज्य तथा पवित्रातिपवित्र है। मनुष्य-जीवन में गर्भाधान-संस्कार से श्राद्ध तक गोदान का महत्त्व है। इन संस्कारों के अतिरिक्त शेष शुभ मुहूर्त्त में भी गोदान का महत्त्व है।

विभिन्न भाषाओं में 'गो' के जो प्रतिशब्द मिलते हैं, उनका विवरण इस प्रकार है,—

भारतीय

१. संस्कृत—गो [गौ], धेनु
२. हिंदी—गो [गौ], धेनु, गाय
३. पंजाबी—गाँ

४. उर्दू—गाय, गउ
५. कश्मीरी—माव्
६. सिंधी—गाँइ, गऊ
७. मराठी—गाय
८. गुजराती—गाय
९. बंगला – गाभी, गोरू
१०. असमी—गरू, गाय
११. उड़िया—गाई
१२. तेलुगु—आवु
१३. तमिल—पचु, पसु
१४. मलयालम—पशु
१५. कन्नड़—हसु, दन

विदेशी

16. English (old)—कू [cu]
17. English (modern) काउ [Cow)
18. Saxon (old)—कू [cu]
19. Dutch—कोए [Koe]
20. German—कु:. बौस्, बोफ्, बो [Kuh, bous, bof, bo]
21. Swedish—को [Ko]
22. Danish—को [Ko] — koe
23- French—Vache
24. Spanish—Vaca
25. Italian—Vacca
26. Portuguese—Vaca
27. Rumanian—Vaca
28. Norwegian—Ku
29. Polish—Krowa
30. Czech—Krava
31. Serbo-croat—Krava
32. Hungarian —Tehen
33. Finnish—Lehma

34. Turkish—Inek
35. Indonesian—Sapi, Lembu
36. Eperanto—Bovino
37. Russian—Karova
38. Greek —Ayelada
89. Hebrew—Parah
40. Yiddish—Kuh
41. Japanese—Meushi
42. Arabic—Bakara
43. Swahill—Ngombe jike.

इन भाषाओं में 'गो' शब्द के प्रतिशब्द, लिप्यंतर तथा अपभ्रंश-रूप के तुलनात्मक अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि संसार की अधिकांश भाषाओं में 'गो' शब्द अपने किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित है। मूल शब्द संस्कृत का 'गो' ही है। कुछ भाषाओं में इसके ऐसे प्रतिशब्द मिलते हैं, जो संस्कृत मूलरूप 'गो' से निष्पन्न या प्रभावित नहीं हैं। किन्तु सामान्यतः 'गो' ही अनेकत्र है। 'ग' का 'क' रूप अनेक स्थलों पर हो जाना भाषावैज्ञानिक ध्वनि-सिद्धांत के अनुकूल है।

पाश्चात्य साहित्य में भी गायों से संबद्ध अनेक साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ हैं। गाय (Cow) के साथ संध्या का साहचर्य 'गोधूलि' की तरह अँगरेजी में भी है। उदाहरणतः,—

"Kiss till the cow comes home."[9]

"I warrant you lay abed till the cows come home."[10]

"You may rezoloot till the cows come home."[11]

संस्कृत और हिन्दी के मुहावरों-कहावतों तथा प्रयोगों की तरह अँगरेजी में भी गाय (Cow) के साथ ऋजुता गुण संलग्न है। अतिशय ऋजुता या सरलता कहीं-कहीं मूर्खता का पर्याय भी प्राप्त कर गई है। जैसे,—

"The cow does not gaze at the rainbow, or show or affect any interest in the landscape, or a peacock, or the song of thrushes."[12]

'The cow knows not what her tail is worth till she have lost it."[13]

गोदुग्ध के सम्बन्ध में भी कई प्रकार की अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं,—

1. "Who'd keep a cow, when he may have a quart of milk for a penny ?"[14]
2. "Be not you like the cow, that gives a good sope of milk, and casts it down with her heels."[15]
3. "A cow that gives good milk, but kicks it the ground."[16]
4. "Milk the cow which is near. Why pursue the one which runs away ?[17]
5, "Milk the standing cow, why follow you the flying ?"[18]

इनके अतिरिक्त गाय के बछड़े, गाय के प्रति आकर्षण-विकर्षण तथा गाय के माध्यम से अनेक प्रतीकों का वर्णन भी अँगरेजी में प्रचुर है।

इनमें कुछ यहाँ उदाहरणीय हैं,—

1. "Cows are my passion."[19]
2. "The gossiping sort have a cow's tongue, a smooth side and a rough side."[20]
3. "All is not butter that comes from the cow."[21]
4. "It is said, 'God sends a curst cow short horns' but to a cow too curst he sends none.'[22]
5. Many a good cow hath an evil calf."[23]
6. "A cow is very good animal in the field; but we turn her out of a garden.'[24]

अँगरेजी-साहित्य में गाय (cow) पर अनेक कविताएँ लिखी गई हैं। जैसे,—

1. "Thank you, pretty cow, that made
   Pleasant milk to soak my bread."[25]

2. "The friendly Cow all red and white,
 I love with all my heart :
 She gives me cream with all her might
 To eat with apple-tart."[26]

3. "God's jolly cafeteria
 With four legs and a tail."[27]

4. "I never saw a Purple Cow
 I never Hope to see one;
 But I can tell you, any how,
 I'd rather See than Be one."[28]

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार १६०० ई० से पूर्व cow शब्द नहीं मिलता। cow ('काउ' या 'को') संस्कृत 'गो' (Gow) से निष्पन्न शब्द है। 'ग' का 'क' बन जाना लिप्यंतरण में अस्वाभाविक नहीं है गो-शब्द तथा गो-दृष्टि के लिए अँगरेजी-साहित्य भारत और संस्कृत-हिंदी के प्रति अनुगृहीत है। यह भी सत्य है कि 'गो' के प्रति भारतीय दृष्टिकोण की पवित्रता तथा धार्मिकता को अँगरेज ग्रहण नहीं कर सके। भारत के त्रित्व—गो-गीता-गंगा में 'गो' शब्द प्राग्र है। अँगरेजी में इस धर्मान्वित शब्द का उपयोग दूसरी तरह हुआ। हिंदुओं के लिए गाय खाना पाप है, मुसलमानों के लिए शराब पीना पाप है, किंतु अँगरेजों के लिए गाय खाना और शराब पीना, दोनों में एक भी पाप नहीं, बल्कि उनके दैनंदिन उपयोग के उपकरण हैं। अतः पाप-विज्ञान के सापेक्षतावाद के क्रम में इसका उल्लेख हुआ है। पाप-पुण्य की परिभाषा दिक्काल-सापेक्ष होती भी है।

संस्कृत में गौ (गाय) के गौ-सहित नौ पर्याय उपलब्ध हैं,—माहेयी, सौरभेयी, उस्रा, माता, शृंगिणी, अर्जुनी, अघ्न्या, रोहिणी और गौ,—

माहेयी सौरभेयी गौरुस्रामाता च शृंगिणी।
अर्जुन्यघ्न्या रोहिणी स्यादुत्तमा गोपु नैचिकी।"[29]

गौ के उपर्युक्त पर्यायों के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं,—

१. **माहेयी**—(मह्याः सुरभ्याः अपत्यमिति) मही + (नद्यादिभ्योः) ढक्—स्त्रियां ङीष्। मही की पुत्री ही माहेयी है। महाभारत में यह शब्द इस प्रकार व्यवहृत है,—

सर्वश्वेतेव माहेयी वने जाता त्रिहायणी।
उपातिष्ठत पाञ्चाली वासितेव महावृषम्।"[30]

२. **सौरभेयी**—(सुरभेरपत्यं स्त्री) सुरभि + ढक् + ङीप्। अर्थात् सुरभि की पुत्री। कालिदास ने इस शब्द का प्रयोग किया है,—

"निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुः समुद्रां जुगोपगोरूप धरामिवोर्वीम्।"[31]

३. **उस्रा**—उस्र + टाप्। उस्र अर्थात् वृषभ। वेद में उस्रा शब्द है,—
"वन्वन्क्रत्वानार्वोस्रः पितेव।"[32]

४. **माता**—(मान्यते पूज्यते या सा) माताएँ सात प्रकार की हैं, जिनमें गौः का भी स्थान है,—

"आदौ माता गुरोः पत्नी ब्राह्मणी राजपत्निका
गावी धात्री तथा पृथ्वी सप्तैता मातरः स्मृताः।"

५. **शृंगिणी**—(शृङ्गे स्तः अस्याम् इति) शृङ्ग + इनि + ङीष्। अर्थात् शृंगों के सौंदर्य के ही कारण गाय शृंगिनी है।

६. **अर्जुनी**—(अर्ज्जयति संस्करोतीति) अर्ज्ज + उनन् + ङीष्—अर्थात् जो संस्कार भरे वही अर्जुनी है।

७. **अघ्न्या**—(न हन्यते या) हन् + यक् अर्थात् जिसकी हत्या न की जा सके।

वृषभ को अघ्न्या का पति बताया गया है,—

'पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानाम्।'[33]

८. **रोहिणी**—रुह् + इनम् + ङीष्,

प्रीत्या नियुक्तालिहतीः स्तननधयान्निगृह्य-पारीमुभयेन जानुनोः
वर्द्धिष्णु धाराध्वनित रोहिणी पयश्चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः।[34]

९. **गौ**—इसका उल्लेख आरंभ में हो चुका है।

उत्तम गाय को नैचिकी कहते हैं। (नीचैश्चरतीति यद्वा प्रशस्तं निचिकमस्याः—निचिः कर्णशिरोदेशः।) रंगभेद से गाय के कई प्रकार होते हैं, जैसे, शबली (चितकबरी), धवला, कृष्णा, कपिला, पाटला इत्यादि। प्रमाण-भेद से दीर्घा, ह्रस्वा, खर्वा भेद हैं। शरीरभेद से पिंगाक्षी, लंबकर्णी, तीक्ष्णशृंगी ये तीन भेद होते हैं।

आयु के आधार पर गाय के भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं। एक वर्ष की गाय को 'एकाब्दा' या 'एकहायनी', दो वर्ष की गाय को 'द्विवर्षा' या 'द्विहायनी', तीन वर्ष की गाय को 'त्र्यब्दा' या 'त्रिहायणी' और चार वर्ष की गाय को 'चतुरब्दा' या 'चतुर्हायणी' कहते हैं।[35]

जिस गाय को बच्चे नहीं हों या जो बाँझ हो, उसे 'वशा' और 'वंध्या' कहते हैं। जिस गाय का अकस्मात् गर्भपात हो गया हो, उसे 'अवतोका' तथा 'स्रवद्गर्भा कहते हैं। वृषभ-समागम-प्राप्त गाय को संधिनी कहते हैं। वृषभ-समागम के कारण जिसका गर्भ नष्ट हो गया हो उसे 'वेहद्' कहते हैं।'[36]

वृषभ-समागम की इच्छावाली गाय के लिए 'काल्या' तथा 'उपसर्या' दो नाम हैं। जिस गाय ने प्रथम गर्भ धारण किया है, उसके लिए 'प्रष्ठौही' तथा 'बालगर्भिणी' शब्द हैं। सीधी-सादी गाय के लिए 'अचंडी' तथा 'सुकरा' शब्द हैं। जिस गाय को अनेक बच्चे उत्पन्न हुए हों, उसे 'बहुसूति' एवं 'परेष्टुका' कहते हैं। बकेन के लिए 'चिरप्रसूता' तथा 'वष्कयिणी' (वष्कयणी, बष्कयणी) शब्द हैं। सद्यःप्रसूता गाय को 'धेनु' तथा 'नवसूतिका' कहते हैं। जो गाय सुविधापूर्वक दूध दे, उसे 'सुव्रता' तथा 'सुखसंदोह्या' कहते हैं। सुपुष्ट स्तन वाली गाय को 'पीनोघ्नी' तथा 'पीवरस्तनी' कहते हैं।'[37]

तेरह से सोलह सेर तक दूध देनेवाली गाय को 'द्रोणक्षीरा' तथा 'द्रोणदुग्धा' कहा जाता है। बंधक दी गई गाय को 'धेनुष्या' तथा प्रतिवर्ष बच्चा देनेवाली गाय को 'समांसमीना' कहते हैं।[38]

गाय के स्तन को 'ऊधः' एवं 'आपीनम्' कहते हैं। गाय को बाँधने के खूँटे को 'शिवकः' तथा 'कीलकः' कहते हैं। दोहन-काल में गाय के पैर में बाँधने के रज्जु को 'दामः' एवं 'संदानम्' कहते हैं।

सामान्य रूप से पशुवर्ग को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है,—(१) वायव्य—आकाश में उड़नेवाला, (२) अरण्य—जंगलों में रहनेवाला और

(३) ग्राम्य—गाँवों में रहनेवाला पालतू पशु। पालतू पशुओं की संख्या अथर्ववेद के अनुसार पांच है—गाय, घोड़ा, पुरुष, बकरी तथा भेड़।'[39]

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में गोधन-गोपालन का उल्लेख किया है। उनके अनुसार गोविभाग के सर्वोच्च कर्मचारी का नाम 'गोऽध्यक्ष' है। इस गोऽध्यक्ष के संरक्षण में गोरक्षा के लिए कई विभागीय कर्मचारी थे, जैसे,—वेतनोपग्रहिक—वेतन लेकर गोसेवा करनेवाला, करप्रतिकर—थोड़ा-सा कर देनेवाला सेवक, भग्नोत्सृष्टक—जीर्ण पशुओं का सेवक, और भागानुप्रविष्टक—गोधन से लघु भाग लेकर कार्य करनेवाला व्यक्ति।[40]

सौ-सौ गायों के यूथ पर एक-एक गोपालक, पिंडारक, दोहक, मंथक और लुब्धक (जंगली पशुओं से गायों की रक्षा करनेवाला शिकारी) होता था। इनके लिए कौटिल्य ने वेतन देने की व्यवस्था का उल्लेख किया है। उन्हें दुग्ध-घृतादि का अंश देने का विधान नहीं था। गोरस देने से गायों का सम्यक् परिपालन नहीं हो पाता।[41]

---

१. मनुस्मृति—७।७६
२. महाभारत १६५।१०
३. रघुवंशम्—१।२६
४. महाभारत—३।३।५२
५. रघुवंशम् ५।१२
६. वृन्दावनयमक २
७. भागवत ६।२१।२५
८. निघंटु—३।१६

9—Beaumont and Fletcher,
[The Scornful Lady. Act iii, sec 1. (1616)]

10—Swift. [Polite Conversation, Dial ii (1738)]

11—John Hay. [Little Breeches. (1873)]

12—Emerson, Letters and Social Aims : Poetry and Imagination.

13—George Herbert, Jacula Prudentum. No 868.

14. Thomas Fuller, Gnomologia, No 5697.
15. Henry Porter, The Pleasant History of the Two Angry Women of Abington, sec. 10 (1599)
16. Edward Ward, Female Policy 84, (1716)
17. Theocritus, Idylls. No. Xi, 1. 75.
18. Francis Bacon, Promus. No. 533. (1594)
19. Dickens, Dombey and Son. Bk. i, ch. 21.
20. William Ellis, Housewifis Companion. ch. 7. (1750)
21. Thomas Fuller, Gnomologia. No. 527.
22. Shakespeare, Much Ado About Nothing. Act ii sec 1, 1.25.
23. Proverb.
24. Samuel Jonson, Every Man in His Humour. Act. iv., see 1.
25. Ann Taylor, The cow.
26. R. L. Stevenson, The cow.
27. E. M. Root, The cow.
28. Gelett Burgess, The Purple cow.
२९. अमरकोष : २।९।६६
३०. महाभारत : ४।१६।१०
३१. रघुवंश :२।३
३२. ऋग्वेद: ६।१२।४
३३. अथर्ववेद: ९।४।८
३४. माघ १२।४०
३५. "द्विहायनी द्विवर्षा गौरेकाब्दा त्वेकहायनी
चतुरब्दा चतुर्हायिण्येवं त्र्यब्दा त्रिहायणी ।"
अमरकोष : २।९।६८
३६. "वशा वन्ध्याऽवतोका तु स्रवद्गर्भाऽथ सन्धिनी
आक्रांता वृषभेणाऽथ वेहद्गर्भोपघातिनी ।"
अमरकोष : २।९।६९
३७. "काल्योपसर्या प्रजने प्रष्ठौही बालगर्भिणी
स्यादचण्डी तु सुकरा बहुसूतिः परेष्टुका ।
चिरप्रसूता बष्कयिणी धेनुः स्यान्नवसूतिका
सुव्रता सुखसंदोह्या पीनोध्नी पीवरस्तनी ।"
अमरकोष : २।९।७०-७१

३८. "द्रोणक्षीरा द्रोणदुग्धा धेनुष्या बन्धके स्थिता:
"समांसमीना सा यैव प्रतिवर्षं प्रसूयते।"

अमरकोष : २।६।७२

३९. "तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः।"—

अथर्ववेद : ३।१०।६

४०. "गोऽध्यक्षो वेतनोपग्राहिकं करप्रतिकरं भग्नोत्सृष्टक भागानुप्रविष्टकं व्रजपर्यग्रं नष्टं विनष्टं क्षीरघृतसज्जातं चोपलभेत।"

अर्थशास्त्र (कौटिल्य) : २।२९।१

४१. गोपालकपिण्डारकदोहकमन्थकलुब्धकाः शतं शतं धेनूनां हिरण्यभृताः पालयेयुः। क्षीरघृतभृता हि वत्सानुपहन्युरिति वेतनोपग्राहिकम्।

उपरिवत्, २।२९।२-३

ज्योति

भारतीय संस्कृति में 'ज्योति' का अपरिमित महत्त्व है। ज्योतिर्विज्ञान के लिए अलग से ज्योतिर्विद्या या ज्योतिष-शास्त्र है। वैदिक वाङ्मय मूलतः ज्योतिर्दर्शन के आश्रित है। 'ज्योति' ज्ञान और आत्मा, सृष्टि और परमात्मा सबों के प्रतिशब्द में प्रयुक्त है। साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र सर्वत्र 'ज्योति' की महत्ता प्रतिष्ठित है। सूर्य अग्नि, दीप इत्यादि ज्योति के दृश्यमान आधार हैं।

वेद-विद्या में यज्ञ-विद्या का महत्त्व है। यज्ञ-विद्या ज्योतिर्विद्या पर या स्थूलतः अग्निविद्या पर आधारित है। ऋग्वेद के प्राथमिक मंत्र में अग्नि को यज्ञ का देवता, पुरोहित, ऋत्विज्, होता, और रत्नों का आधान करनेवाला बताया गया है,—

"ऊँ अग्नि मीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्।"[1]

सृष्टि के सभी 'भूत' अग्निरूप सूर्य से उद्भूत माने गए हैं,—

"आदित्यादेव भूतानि जायन्ते।"[2]

अग्नि में उष्णता होती है। इसी उष्णता से आत्मा-परमात्मा सबों की उत्पत्ति मानी गई है,—

"अथोपांशुरन्तर्याममभिभवत्यन्तर्याम उपांशुंच।
एतयोरन्तरा देवौष्ण्यं प्रासुवत्।
यदौष्ण्यं स पुरुष:।
अथ यः पुरुषः सो अग्निर्वैश्वानरः।"[3]

अर्थात् प्राण तथा अपान अथवा उपांशु और अंतर्याम के पारस्परिक घर्षण से जो उष्णता उत्पन्न होती है, वही पुरुष और वैश्वानर अग्नि है।

वैश्वानर परमात्मा है। परमात्मा को 'दहर' कहते हैं। व्यास ने ब्रह्मसूत्र में दहर की व्याख्या अनेक सूत्रों में की है।' दहर ब्रह्म ही है,—

"दहर उत्तरेभ्यः"[4]

'दहर' की व्युत्पत्ति में दाहकता की सिद्धि होती है । व्यास ने महाभारत में भी ईश्वर को जिस भाव से प्रणति निवेदित की है, उसमें ज्योतिष्कता प्रमुख हैं,-

" यस्याग्निरास्यं द्यौमूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः । "
सूर्यश्चक्षुःदिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः ।"[5]

अर्थात् अग्नि जिसका मुख है, द्युलोक मस्तक, आकाश नाभि, पृथ्वी दोनों चरण, सूर्य नेत्र तथा दिशाएँ कान हैं, उस सर्वलोकस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है । इसी प्रकार का भाव मुण्डकोपनिषद् में भी व्यक्त है,—

" अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्र वाग् विवृताश्च वेदाः
वायु : प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यो पृथिवी ह्येसर्वभूतान्तरात्मा ।[6]

व्यास ने ब्रह्मसूत्र में 'ज्योति' को ब्रह्म का ही वाचक मान लिया है,—

"ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।"[7]

परमात्मा 'दहर' या आत्मज्योतित विराट् अग्नि है । आत्मा भी उस महाज्योति से संभूत ज्योतिर्मय स्फुलिंग है । भौतिक अग्नि परमात्माग्नि का दूत होने के कारण 'अग्निदूत' कही जाने लगी । मनुष्य ने अग्नि का महाग्निदूतरूप में ही स्वागत किया,—

"अग्नि दूतं वृणीमहे ।"[8]

भौतिक अग्नि का वैज्ञानिक दृष्टि से सभ्यता के इतिहास में महत्त्व है । सृष्टि में अग्नि के खनन, मंथन तथा दोहन का याज्ञिक क्रम चल रहा है । जिस दिन यह यज्ञ समाप्त होगा, सृष्टि समाप्त हो जाएगी । मानवजाति ने इस अग्नि का प्रसन्नता के साथ स्वागत किया,—

"धृतैर्बोधयतातिथिम् घृतेन वर्धयामसि ।"

ब्रह्म-सृष्टि में जो स्थान सूर्य का है, मानव-सृष्टि में अग्नि का वही स्थान स्वीकृत किया गाया,—

"सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः ।"

इस मंत्र के द्वारा सूर्यं को ज्योति का प्रतीक माना गया । इसके साथ ही भौतिक जीवन के लिए समान महत्वपूर्ण अग्नि को भी ज्योति का प्रतीक माना गया,—

"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः ।"[9]

इस अग्नि-मंथन के संबंध में ऋग्वेद की ऋचा इस प्रकार है,—

"अस्तीदमधिमन्थनमस्ति प्रजननं कृतम् ।
एतां विश्पत्नीमाभराग्नि मन्थाम यूर्वथा ।"[10]

ईश्वरत्व के प्रतीक और दूत इस भौतिक अग्नि का सर्वप्रथम अथर्वा या अंगिरस् ने खनन किया था,—

"ततः खनेम सुप्रतीकमग्निम्,
पृथिव्याः सद्यस्थादग्नि पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि ।"[11]

अग्नि के ६१ पर्यायवाची शब्दों में 'जटाधर' में 'वैश्वानर' का भी प्रयोग है। जिसके साथ परमात्मा की पर्यायिता भी प्रमाणित हो चुकी है। 'जातवेदस्' अर्थात् सृष्टि में जितना जो कुछ उत्पन्न है, उसे जाननेवाली अग्नि ही है।संस्कृत में 'अग्निः' पुँल्लिग शब्द है हिंदी में इसका व्यवहार स्त्रीलिंग रूप में होता है। शब्द-व्युत्पत्ति के आधा पर भी अग्नि की उदात्तता सिद्ध होती है,—

"अङ्गयन्ति अग्य्ं जन्म प्राप्यन्ति इति
व्युत्पत्त्या हविः प्रक्षेपाधिकरणेपु गार्हपत्पाह-
वनीय दक्षिणाग्निसभ्यावसथ्यौपासनाख्येषु
षडग्निपु । यद्वा अङ्गति ऊर्ध्वं गच्छति
इति । अगि गतौ । अङ्गेर्नलोपश्चेति निः
नलोपश्च ।"

अग्नि को धर्म का पुत्र माना जाता है। इसकी पत्नी है 'स्वाहा'। यजुर्वेद में एक अग्निस्तुति-मंत्र में अग्नि की सर्वव्यापकता का वर्णन है,—

"गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अयामसि ।"[12]

ऋग्वेद में भी यही भाव है,—

"गर्भो अयां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम् ।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः ।"[13]

यह अग्नि आन्नादि को उत्पन्न करनेवाली है,—

"अग्निर्वै शम.ण्यन्नादीनि प्रयच्छति ।"[14]

अग्नि को सत्पथ का नियामक माना गया है,—

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि।
तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदम् अहमनृताम् सत्यमुपैमि।"[15]

अर्थात् हे अग्नि, आप व्रतपति हैं, जो शुभ संकल्प के साथ सत्य-मार्ग पर चलने के इच्छुक हैं, उनके आप रक्षक हैं। मैं सत्य-मार्ग पर चलने का व्रत ले रहा हूँ। मुझे आप इस व्रत के पालन का सामर्थ्य दीजिए।

अग्नि ही यज्ञ का देव और अधिष्ठाता है—'यज्ञस्य देवम्'। अग्नि से ही वायु की गमनशीलता का उल्लेख है,—

"यदाग्निः प्रवानिव दहति तदस्य वायव्यं रूपम्।"[16]

सूर्य अग्नि की ज्योतिष्कता एवं दाहकता को धारण करता है। जीव की उत्पत्ति इसी सूर्य से मानी गई है—"आदित्यादेव भूतानि जायन्ते" या "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूतः।" इसीलिए सूर्य को 'प्राणः प्रजनाम्' भी सार्थतः कहा गया। "ऊँ तच्चक्षु र्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्" शब्दावली के द्वारा सूर्य की सृष्टिचक्षुष्कता प्रमाणित की गई है,—'जिससे जीवेम शरदः शतम्' की आराधना की गई है। परमात्मा का ज्योतिर्मय मुख हिरण्मय पात्र से ढँका हुआ है। पूषन् अर्थात् सूर्य से अर्चना-प्रार्थना की जा रही है कि वह उसे अनावृत कर दे,—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।"[17]

सूर्य में 'उद्गीथ' या ईश्वर को प्रतिष्ठित कर उपासना करने का उपनिषत्कार आदेश देते हैं,—

"अथाधिदैवतं य एवासौ तपति 'समुद्गीथमुपासी-
तोधन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति।
उद्यंस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता हवै भयस्य तमसो
भवति य एवं वेद।"[18]

प्राण और सूर्य के उष्णतादि गुणों पर समता स्थापित की गई है,—

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ
स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर
इत्यमुं तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत"[19]

आदित्य के रूप में सप्तविध साम की उपासना का उपदेश है। आदित्य सर्वदैव सम है, इसलिए वह साम है। मेरे प्रति ऐसा अनुभूत होने के कारण वह सबके प्रति सम है, इसलिए साम है.—

"अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत
सर्वदा समस्तेन साम मां प्रतीति सर्वेण
समस्तेन साम।"[20]

आदित्य के ब्रह्मरूप की प्रतिष्ठा छांदोग्योपनिषद् में भी की गई है,—

"आदित्यो ब्रह्मेति"[21]

लोकरूपा अग्निविद्या का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यह द्युलोक ही अग्नि है, उसका आदित्य ही समिध है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, चंद्रमा अंगार है और नक्षत्र विस्फुलिंग हैं,—

"असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य
एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा
नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः।"[22]

मनुष्य अग्नि से ही उद्‌गत होकर अग्नि में ही अनुप्रविष्ट हो जाता है। यावज्जीवन भी विविध रूप अग्नि का सेवन उसके अस्तित्व के लिए अपरिहार्य होता हैं। उपनिषत्कार कहते हैं,—

"स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं
दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो
यतः संभूतो भवति।"[23]

शाकल्य के इस प्रश्न पर कि वह देवगण कौन हैं, याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया था,—

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी
च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च
द्यौश्चैति षडेते हीदं सर्वं षडिति।"[24]

अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य और द्युलोक ये ही छह देवगण हैं। इन छहों देवों में अग्नि एवं ज्योतिष्कता प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान हैं।

पुरुषके व्यवहार में जिन पाँच ज्योतियों का उल्लेख है, उसका प्रश्नोत्तर-रूप में उपनिषद् में वर्णन है। याज्ञवल्क्य से जनक पूछते हैं कि पुरुष किस ज्योतिवाला है ?

इसके उत्तर में वे कहते हैं कि हे सम्राट्, यह आदित्य-रूप ज्योतिवाला है। यह आदित्य-रूप ज्योति से ही बैठता, सब ओर जाता, कर्म करता और लौट जाता है,—

"याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरियं पुरुष इति।
आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैवायं
ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्ये—
वमेवैतद् याज्ञवल्क्य।"[25]

जनक फिर पूछते हैं कि आदित्य के अस्त हो जाने पर पुरुष किस ज्योति-वाला होता है ? उत्तर में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वैसी दशा में चंद्रमा ही उसकी ज्योति होती है,—

"चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवति इति
चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म
कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य।"[26]

पुनः जनक प्रश्न करते हैं कि चंद्रास्त भी रहे तो पुरुष किस ज्योति से प्रवृत्त हो ? ऐसी दशा के लिए उन्होंने अग्निज्योति का उपदेश दिया है,—

"अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्पस्त-
मिते किं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य
ज्योतिर्भवतीत्यग्नि नैवायं ज्योतिषास्ते
पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येव-
मेवैतद् याज्ञवल्क्य।"[27]

फिर अग्नि के अभाव में वाग्ज्योति का उल्लेख है,—

"अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्पस्तमिते
शान्तेऽग्नौ किं ज्योतिरेवायं पुरुष इतिवागेवास्य
ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते
कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद् वै सम्राडपि
यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव
तत्र न्येतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य।"[28]

अंत में इस वाग्ज्योति के भी अभाव में आत्मज्योति के आश्रय का आदेश है,—

> अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते
> शन्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं
> पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं
> ज्योतिषस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति''[२०]

इस प्रकार सबसे अंत में आत्मजोति की ही महत्ता प्रतिपन्न है। बुद्ध के उपदेश का सारतत्व यही आत्मज्योतिष्कता है।

''अप्पोदीप भव'' सूक्ति के द्वारा बुद्ध ने भारतीय दर्शन के ज्योतिर्दर्शन का ही प्रतिपादन किया है। जबतक जीवन का अस्तित्व है. आत्मदीपित होकर रहना चाहिए और मरणकाल में 'निर्वाण' की तरह समाप्त हो जाना चाहिए। दीप-निर्वापण ही जीवन-निर्वाण है। आत्मज्योति का महाज्योति में निश्शब्द विलयन ही बौद्धदर्शन में निर्वाण, वैदिक-औपनिषदिक दर्शन में मोक्ष या मुक्ति है। सुकरात ने दूसरी शब्दावली में इसी आत्म-ज्योति को जाग्रत् करने का दर्शन उपस्थित किया था—''Know Thyself.''

''आत्मानं विद्धि:'' का ही यह रूपांतर है। 'अनुमान' में आत्म-ज्योति का उल्लेख है,—

> ''आत्मज्योति : अन्तःस्थम्, आदित्यादिवच्च-
> क्षुरादिभिरदृश्यत्वात् ।''

अर्थात् आत्मज्योति अपने ही अंतर्गत है। वह सूर्यादि की भाँति दीख नहीं पड़ती है। यह हेतु नेत्र के विषय में व्यभिचरित था, क्योंकि अपना नेत्र स्वयं नहीं देखा जा सकता। इस दोष-निवारण के लिए सिद्धांती ने हेतु में 'चक्षु-रादिकरणेभ्योऽभ्यत्वे सति' यह विशेषण जोड़ दिया। अब अनुमान का स्वरूप इत्थंविध है,—

> ''आत्मज्योतिः अन्त.स्थम्, चक्षुरादिकरणेभ्योऽन्यत्वे
> सति चक्षुरादिभिरदृश्यत्वात् ।''

अर्थात् आमज्योति अपने अंदर स्थिर है, क्योंकि यह चक्षु आदि इंद्रियों से भिन्न होती हुई उन इंद्रियों से देखी नहीं जाती। यह निर्दोष हेतु होगा। जो कर्ता है, वही ईश्वर है,—

"विमतं चैतन्यज्योतिः संघाताद् भिन्नम्,
तद्भासकत्वात् आदित्यादिवत् ।"

ज्योतिस्वरूप आत्मा अंगुष्ठमात्र भाव से हृदय में स्थिर है । इस संबंध में उपनिषत्कार का चिंतन उदाहरणीय है,—

"अंङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः
एतद्वै तत् ।"[30]

यह अंङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योति के समान है । यह भूत-भविष्यत् का शासक है । यही आज (वर्तमान काल में) है और यही कल (भविष्यत् में) भी रहेगा । और निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है । ईशोपनिषद् के अंतिम मंत्र में भी अग्नि को ही भस्मांत शरीर के पश्चात् आत्मा के नेतृत्व का आग्रह किया गया है,—

"अग्ने नय सुपथा राये अस्मन्विश्वानि
देव वयुनानि विद्वान् ययोध्यस्मज्जुहुराण-
मेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।"[31]

सृष्टि में चार पदार्थ का प्रमाण उपस्थित किया गया है—स्वज्योति, परज्योति, रूप-ज्योति तथा अज्योति । स्वतः प्रकाशित आत्मज्योति या स्व-ज्योति है—जैसे सूर्य, विद्युत, अग्नि । दूसरे के प्रकाश से चमत्कृत होनेवाले पदार्थ को परज्योति कहते हैं, जैसे - चंद्रमा, जल, दर्पण । जिनमें प्रकाश न हो, उन्हें रूप-ज्योति की संज्ञा दी गई, जैसे पृथ्वी के तत्त्व से बने पदार्थ । और जिनका रूप भी नहीं होता, उन्हें अज्योति कहते हैं जैसे वायु ।

दीपक स्वज्योति या आत्मज्योति का प्रतीक है । दीपक 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का सिद्धांत उपस्थित करता है । 'ॐ अग्निमीळे पुरोहितम्.....' मंत्र में ऋग्वेद में आदिदीप की कल्पना की गई है । दीपक को विभिन्न प्रतीक एवं उपमादि-अलंकार के द्वारा काव्य एवं दर्शनग्रंथों में प्रयुक्त किया गया है । गीता में स्थिरचित्त व्यक्ति की दशा को शांत दीपशिखा से उपमा दी गई है,—

"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।"[32]

'गीता' में ही दूसरे स्थल पर ज्ञानदीप के द्वारा अज्ञान के अंधकार के नाश का चिंतन है,—

"तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।"[33]

बौद्ध कवि अश्वघोष ने सौंदरनंद-काव्य में निर्वाण-दीप का वर्णन आत्मा के क्लेशों से मुक्त हो जाने के रूप में किया है,—

"दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो नैनावनीं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ।
तथा कृतो निर्वृत्तिमभ्युपेतो नैवावनीं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ।"

संस्कृत के महाकवि कालिदास ने इंदुमती के सौंदर्य की उपमा संचारिणी दीपशिखा से दी है,—

"सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिम्वरा सा
नरेन्द्र मार्गाट्टइव प्रपेदे ।
विवर्ण भाव स स भूमिपालः ।"[34]

इसी उपमा और सौंदर्य-कल्पना के कारण कालिदास का उपनाम 'दीपशिखा' रखा गया ।

कबीरदास ने इस ज्योतिर्भाव को कई स्थलों पर व्यक्त किया है,—"रंग-महल में दीप बरत है, आसन से मन डोल रे ।"

"जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं मैं नाहि ।
मिट्यो अंधेरा जब लख्यो, दीपक अपने माहिं ।"

तुलसीदास ने युवतीतन को दीपशिखा-सम मानकर उसे त्याज्य बताया है, पर उसी दीप को राम-नाम-मणि के भी साथ संपृक्त किया है,—

"रामनाम मनिदीप धरु जीह देहरी द्वार ।
'तुलसी' भीतर बाहिरों जौ चाहसि उजिआर ।"

आधुनिक हिंदी-काव्य में महादेवी वर्मा ने दीपक को विविध प्रकार से उत्प्रेक्षित, उपमित, प्रतीकित किया है। गीता के निष्कंप दीप की तरह कवयित्री स्वयं जलना चाहती हैं,—

"दीप मेरे जल अकंपित, घुल अचंचल'[35]

वे अपनी आत्मा के सभी दीपों को प्रोज्ज्वल कर लेना चाहती हैं,—

"सब बुझे दीपक जला लूँ।"[36]

महादेवी की स्वज्योति का भाव निम्नलिखित पंक्ति से स्पष्ट है,—

"धूप-सा तन दीप-सी मैं।'[37]

निराला ने सूर्य के दीपकत्व में समग्र सृष्टि को आलोकित करने का आग्रह किया है,—

"तिमिर-दारण मिहिर दरसो।"

समासतः भारतीय संस्कृति ज्योति की संस्कृति है। परमात्मा ज्योति है, आत्मा ज्योति है। उस ज्योति का जागरण ही जीवन का चरम लक्ष्य है। दीप-शिखा उस आत्मज्योतित तथा स्वदीपित प्राण की प्रतीक है। दीपावली का पर्व ज्योतिपर्व है, जिसमें हम बाहर लक्ष-लक्ष दीपक जलाकर अज्ञानवश संतुष्ट हो जाते हैं। हमारा चरम लक्ष्य भारतीय संस्कृति-सम्मत दृष्टि और चिंतन से उपेत आत्मदीपन में होना अभिप्रेत है।

---

१. ऋग्वेद : १.१.१.
२. ऋग्वेद
३. मैत्रायणी उपनिषद् : २।६.
४. ब्रह्मसूत्र : वेदांतदर्शन : १।३।१४
५. महाभारत, शांतिपर्व : ४७।७०
६. मुण्डकोपनिषद्: २।१।४
७. ब्रह्मसूत्र; वेदांतदर्शन : १।१।२४
८. ऋग्वेद : १।१२।१
९. यजुर्वेद : ३।९
१०. ऋग्वेद : ३।२६।१
११. यजुर्वेद : ११।२८
१२. यजुर्वेद : १२।३७
१३. ऋग्वेद : १।७०।२
१४. ऐतरेय ब्राह्मण : २।५।६

१५. यजुर्वेद : १।१६।३०
१६. ऐतरेय ब्राह्मण : ३।१।४
१७. ईशोपनिषद् : १५
१८. छान्दोग्योपनिषद् : १।३।१
१९. उपरिवत् : १।३।२
२०. उपरिवत् : २।६।१
२१. उपरिवत् : १।६।१
२२. उपरिवत् : ५।४।१
२३. उपरिवत् : ५।६।२
२४. बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।६।७
२५. उपरिवत् : ४-३-२
२६. उपरिवत् : ४-३-३.
२७. उपरिवत् : ४-३-४
२८. उपरिवत् : ४-३-५
२९. उपरिवत् : ४।३।६
३०. कठोपनिषद्, अध्याय २, वल्ली १, श्लो। १
३१. ईशावास्योपनिषद् : १८
३२. गीता : ६।१६
३३. उपरिवत् : १०।११
३४. रघुवंशम् : ६।६७
३५. दीपशिखा—१
३६. उपरिवत्—५
३७. उपरिवत् : १४

पाठकवर्ग

'पाठक-वर्ग' पर विचार के पूर्व 'पाठक' शब्द पर विचार आवश्यक है। हिंदी में 'पाठक' शब्द का अर्थ है, पढ़नेवाला, अध्येता अथवा Reader। संस्कृत में यह अर्थ नहीं है। वहाँ 'पाठक' का अर्थ है, अध्यापक, उपाध्याय, पढ़ानेवाला या Teacher।—(पठ् + णिच् + ण्वुल् = पाठकः)

संस्कृत का 'पाठ' शब्द (पठ् + घञ् = पाठः) अध्ययन और अध्यापन दोनों अर्थ रखता है। 'पाठ' का कोशगत अर्थ है, महायज्ञ, पठन, पाठना, पाठन, अध्ययन, अध्यापन, अभ्यासना, अभ्यसन, निपाठ, निपठ इत्यादि। इस आधार पर 'पाठक' का अर्थ 'पढ़नेवाला' भी हो सकता है, किंतु तब इस शब्द की व्युत्पत्ति 'पठ्' धातु में 'णिच्'-पूर्वक 'ण्वुल' प्रत्यय नहीं, वरन् 'पठ्' धातु में 'घञ्'-पूर्वक 'क' प्रत्यय होना चाहिए।

वस्तुतः अध्ययन करनेवाले के लिए 'अध्येता' शब्द की तरह, इसके पर्याय में पढ़नेवाले के लिए 'पठक' शब्द है, 'पाठक' नहीं। 'पठक' (पठ् + ण्वुल्) का प्रयोग अनेकत्र हुआ भी है। महाभारत में 'पठक' और 'पाठक' दोनों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—"पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः।"

अर्थात्, बिना व्यवहार या क्रियाशीलता के पठन-पाठन करनेवाले पठक, पाठक या अन्य शास्त्रचिन्तक मूर्ख हैं।

अतः 'पाठक' शब्द का 'पढ़नेवाला' यह हिंदी का प्रयोग-सिद्ध अपना अर्थान्वेषण है।

पठन-पद्धति अथवा अध्ययन-पद्धति का विकास बहुत प्राचीन नहीं है। प्राचीन काल में ग्रंथ-लेखन की प्रथा नहीं थी। पठन-पद्धति का संबंध और विकास लिपि-आविष्कार और पुस्तक-प्रणयन से संबद्ध है।

संसार की प्रत्येक भाषा में मौखिक साहित्य रचना पहले हुई, लेखन-पद्धति का आविष्कार पीछे हुआ और पुस्तक-प्रणयन तो और बाद में चलकर हुआ। यदि भारतीयों ने वैदिक काल में लिपि का आविष्कार कर लिया था, इसे सत्य मान लें तो भी लिखने की प्रथा प्रायः नहीं थी, यह प्रमाण-सिद्ध है। मानव-समाज को स्मरण-शक्ति पर भरोसा रखना पड़ता था। श्रुति-परंपरा या स्मरण-शक्ति के कारण ही 'वेद' का एक नाम 'श्रुति' है। 'मुखस्थ विद्या' में भी लेखन-कला की अस्वीकृति है।

मैक्समूलर ने अनेक अनुसंधानों पर यह सिद्ध किया है कि पाणिनि-काल तक भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान नहीं था। किंतु यह सिद्धांत गलत है। इस विषय पर अनेक शोधकार्य हुए हैं और यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीयों को लेखन-कला का पूर्ण ज्ञान था। लेखन का वर्जन अवश्य मिलता है। इसका कारण था कि शास्त्रों को लिपिबद्ध कर देने पर कंठाग्र करनेवाली प्रथा में व्यवधान उपस्थित होता। इसीलिए वेदादि को लिखकर नहीं, सुनकर स्मरण रखने का आदेश था,—

वेदस्य लिखनं कृत्वा यः पठेत् ब्रह्महा भवेत्
पुस्तकं वा गृहे स्थाप्यं वज्रपातो भवेद्ध्रुवम्।''

अर्थात् वेदों को लिखकर पढ़ना ब्रह्महत्या के समान है। इस आज्ञा का एक और कारण था। सुनकर वेदों को स्मरण करने से उदात्त-अनुदात्त-स्वरित इत्यादि उच्चारण-पद्धति का प्रत्यक्ष अभ्यास एवं ज्ञान हो जाता था, जो लिखित वेदों को पढ़ने से संभव नहीं था।

इसीलिए पठन या अध्ययन का भी प्राचीन अर्थ श्रवणाश्रित है। इन शब्दों का पर्याय है—'गुरुमुखादनुपूर्वीश्रवणम्'। यहाँ भी लिखकर वाचन-पठन का अर्थ-निषेध है।

पठन-पाठन के संबंध में दूसरा विचारणीय पक्ष है 'वर्ग'। पाठक-वर्ग का तात्पर्य आज साक्षरता-शिक्षा-सापेक्ष समुदाय से है, जो पहले नहीं था। अध्ययन-अध्यापन का कर्म केवल ब्राह्मणों के कर्त्तव्य-शास्त्र में था। ब्राह्मणों के लिए जिस षट्कर्म का उल्लेख किया जाता है, उसमें पठन-पाठन अथवा अध्ययन-अध्यापन का स्थान सबसे पहले है—

''अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्मण्यग्रजन्मनः।''

(मनुस्मृति)

इसीलिए प्राचीनकाल में चतुर्वेदी, चतुर्धुरीण, त्रिवेदी, त्रिपाठी, द्विवेदी, पाठक, उपाध्याय इत्यादि उपाधियाँ केवल ब्राह्मण-वर्ग को अपनी योग्यता के अनुकूल प्रदत्त थीं। ब्राह्मण, द्विज या विप्र की परिभाषा में यह भी कहा गया है कि केवल जन्म नहीं, कर्म से भी व्यक्ति विप्रत्व प्राप्त कर सकता है। अर्थात् ब्राह्मण, विप्र या द्विज शब्द जाति से अधिक ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, जिनका तात्पर्य ज्ञान-विज्ञान से संबद्ध अध्ययन-अध्यापन या पठन-पाठन से था।

आज 'पाठक' और 'वर्ग' दोनों में अर्थांतर और विकास हुआ है। पहले लिखना और लिखित ग्रंथ को घर में रखना पाप समझा जाता था। आज यही महापुण्य है। आज हम इस विषय पर परिसंवाद का आयोजन इस उद्देश्य से करते हैं कि हमारी भाषा में पाठकों की संख्या का अधिक-से-अधिक विकास और विवर्धन कैसे हो। आज हम राष्ट्रीय और सार्वजनिक से लेकर वैयक्तिक पुस्तकालय के विकास के लिए सक्रिय हैं। पुस्तकें हमारी सर्वाधिक शुभचिन्तक मित्र समझी जाती हैं।

पठन या Reading को पाश्चात्यों ने भी अनेक उपयोगिता के साथ स्वीकार किया है। एडिसन ने पठन को मस्तिष्क के लिए उतना ही आवश्यक माना है, जितना शरीर के लिए व्यायाम,—

"Reading is to mind, what exercise is to the body."[3]

बेकन अध्ययन की गरिमा को इस प्रकार स्वीकार करते हैं,—

"Reading maketh a full man; conference a ready man, and writing an exact man."[4]

इसी भाव को बेंजामिन फ्रैंकलिन ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है,—

"Reading makes a full man—meditation a profound man—dis co urse a clear man."[5]

रोबर्ट बर्टन ने अध्ययन को निर्दोष और सर्वाधिक सुखदायक माना है—

"Of all the human relaxations which are free from guilt, none so dignified as reading.[6]

इस प्रकार अध्ययन की महत्ता सर्वस्वीकृत है।

यहाँ अध्ययन का तात्पर्य किसी विश्वविद्यालय या संस्थान में प्रशिक्षण से नहीं है। अध्ययन या पाठन का तात्पर्य है स्वाध्याय—अपने घर में पुस्तकें पढ़ना।

पढ़ने का उद्देश्य भिन्न-भिन्न हो सकता है। पढ़ने की रुचियाँ भी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं।

हिन्दी भारत की संपर्क-भाषा है। इस पर सह-राजभाषा का उत्तरदायित्व भी है। हिन्दी की साक्षरता ही अभी कम है। उसमें अध्ययन का अभ्यास अल्पतर है।

लोकरुचि का प्रभाव रचनाकार पर पड़ता है। इसी प्रकार रचनाकार के दृष्टिकोण से पाठकों की रुचि का निर्माण होता है। केवल रचनाकारों की उत्कृष्टता से ही किसी राष्ट्र का चरित्रनिर्माण नहीं हो सकता, जबतक समाज में रचनाकारों के विचारों का व्यापक पठन न हो।

हिंदी में एक तो बहुपाठकत्व का अभाव है, दूसरे जो भी पाठक हैं, पंचानवे फी-सदी से अधिक अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त नहीं करते। यह हिंदी के लिए बहुत हितकर नहीं है। अतः हिंदी-पाठक-वर्ग की समस्याएँ और उनके समाधान के लिए अनुसंधान तथा परिसंवादों की आवश्यकता है।

---

१. महाभारत : ३ । ३१२ । १०५
२. पद्मोत्तर खंड : ११७ अध्याय
3. Addison, The Tatler No. 147.
4. Francis Bacon, Essays : Of Studies.
5. Benjamin Franklin, Poor Richard, 1738
6. Egerton Brydges : The Ruminator, No. 24.

स्नातक

'स्नातक' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है 'स्नान किया हुआ'। इस प्रकार यह एक विशेषण शब्द है। संस्कृत में 'स्नातक' शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। 'स्नातक' का अमरकोष के अनुसार एक और पर्याय है 'आप्लुत'—

'स्नातकस्त्वाप्लुतो व्रती', (अमरकोष: २-७-४३)

स्नातक तीन प्रकार के माने गये हैं—(१) 'विद्या-स्नातक'—जिसने वेद को समाप्त कर लिया है, किन्तु व्रत को समाप्त किए बिना समावर्तन-संस्कार प्राप्त किया है। (२) 'व्रत स्नातक'—जिसने व्रत को समाप्त कर लिया है, किंतु वेद को समाप्त किए बिना समावर्तन-संस्कार प्राप्त किया है। तथा (३) विद्या-व्रत स्नातक'—जिसने वेद और व्रत दोनों को समाप्त कर समावर्तन-संस्कार प्राप्त किया है। 'भरत' में इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(१) तावद्वेदमुपास्यासमाप्तवेद एवाश्रमान्तरं गतो यः स व्रतस्नातकः।

(२) वेदमधीत्यगुरुसन्निधौ वेदाभ्यासं यः करोति स विद्यास्नातकः।

(३) पालित सम्यग्व्रतः प्राप्तवेदो यो द्वितीयाश्रमं गतः स उभयस्नातकः।

'स्नातक' शब्द की कई परिभाषाएँ दी गई हैं। 'स्नातक' शब्द की व्युत्पत्ति एवंविध है—स्ना + क्त + कन्; अर्थात् वह जिसने स्नान कर लिया है।

वेदाध्ययन के अनन्तर स्नान-कर्म तथा गुरुगृह से लौटते समय के संस्कार को 'स्नान' या 'समावर्तन' कहा जाता है। इसके लिए गौतम, आपस्तंब, हिरण्यकेशि, याज्ञवल्क्य ने स्नान शब्द का प्रयोग किया है, आश्वलायनगृह्य सूत्र, बौधायनगृह्यसूत्र, आपस्तंबधर्मसूत्र तथा भारद्वाज-गृह्यसूत्र में 'समावर्तन' शब्द का तथा खादिरगृह्यसूत्र एवं गोभिलगृह्यसूत्र में 'आप्लवन' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः समासतः स्नान, आप्लवन एवं समावर्तन ये तोनों परस्पर

पर्यायवाची शब्द हुए। इस आधार पर स्नातक, आप्लुत एवं समावर्तित शब्द भी उपर्युक्त संस्कार-प्राप्त व्यक्ति के लिए विशेषण-पर्याय हुए, किन्तु अमरकोष में केवल 'स्नातक' तथा 'आप्लुत' को ही परस्पर-पर्याय माना गया है।

सूत्रकारों ने वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्मचारी के लिए स्नान-क्रिया का महत्त्व स्थापित किया है।

अपरार्क ने स्नान तथा समावर्तन में अन्तर दिखाया है। उनके अनुसार 'स्नान' का तात्पर्य है, विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति, किन्तु समावर्तन का तात्पर्य है, गुरुगृह से अपने गृह लौट आना। इस आधार पर जो विद्यार्थी जीवनभर ब्रह्मचारी रहना चाहता है, उसके लिए स्नान-कर्म आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने अपने घर में ही अपने पिता से विद्याध्ययन किया है, उसके लिए 'समावर्तन' की आवश्यकता नहीं है।

बौधायनगृह्यसूत्र के अनुसार स्नान तथा विवाह के मध्य लम्बी अवधि पाई जाती है। इसके मध्य व्यक्ति स्नातक कहा जाता है, किन्तु विवाह के अनन्तर वह गृहस्थ हो जाता है। 'भरत' में थोड़ी भिन्न बात कही गई है। ब्रह्मचर्य का त्याग कर जो गृहस्थाश्रम में चला आया, वह स्नातक है और वेदाध्ययन की समाप्ति करने पर जो आश्रम में ही है वह भी स्नातक है,—

"ब्रह्मचर्यं त्यक्त्वा यो गृहाश्रमं गतः स स्नातकः।
समाप्त वेदाध्ययनो यः स्नानशीलः आश्रमान्तरं न गतः
सोऽपि स्नातकः।"

स्नातक की 'भरत' में एक और व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा है—

"समाप्त-वेदाध्ययने स्नानशीले स्नातं स्नानं शीलमस्य स्नातकः।"

स्नातक स्नान-कर्म के बाद ही बनता है। उसके लिए भिक्षाटन वर्जित है। ब्रह्मचारी जो स्नातक नहीं होकर ब्रह्मचारी बना रहना चाहता है, उसके लिए भिक्षाटन वर्जित नहीं माना गया है।

अध्ययन के साथ 'जल' का अनेकविध महत्त्व माना गया है। विद्यार्थी गुरु की आज्ञा से जल-स्नान कर 'स्नातक' बनता है। फिर परीक्षाओं की जल-राशि में सफल होनेवाले को ही उत्तीर्ण कहा जाता है। उत्तीर्ण का अर्थ है, तैरकर उस पार चला जानेवाला—उत्+तॄ+क्त। विद्या में पंडित या विज्ञ को ही 'पारंगत' (तीर्त्वा पारं गतः यः सः) तथा 'निष्णात'—(नि+स्ना+क्त) (नितरां स्नाति स्मेति) कहा जाता है। इन शब्दों में भी 'जल' की महत्ता है।

'स्नातक' शब्द केवल गुरु की आज्ञा से जल में स्नान कर लेनेवाले के अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि जिसने ज्ञान की जलराशि में डुबकी लगा ली है। अंग्रेजी में स्नातक को Graduate कहते हैं। Post graduate तथा under graduate की पद्धति पर 'स्नातकोत्तर' तथा 'पूर्वस्नातक' शब्द भी व्यवहृत होने लगे हैं।

'समावर्तन' के स्थान पर आज 'दीक्षांत-समारोह' का प्रयोग उचित ही है, क्योंकि विद्यार्थी न गुरु के कुल में पढ़ता है, नहीं, उसे अध्ययन की समाप्ति पर अपने घर प्रत्यावर्तन या समावर्तन की आवश्यकता पड़ती है।

लेकिन 'स्नातक' शब्द आज भी अपनी महत्ता बनाए हुए है। स्नातक से स्त्रीलिंग शब्द 'स्नातिका' है।

शहीद

'शहीद' अरबी शब्द है, जो 'शहादत' संज्ञापद से बना विशेषण है। अरबी में 'शहादत' (संज्ञा स्त्रीलिंग) का अर्थ है, प्रमाण या गवाही। इसलिए शहीद का मूलार्थ है 'ईश्वर या धर्म के लिये साक्षी होना।' बाद में अर्थ-विस्तार-पूर्वक 'शहीद' का अर्थ हो गया—'धर्म या ईश्वर के लिये प्राण देनेवाला।' 'शहीद' शब्द में फिर अर्थ-विस्तार हुआ। अब राष्ट्र के लिए या किसी भी महत्तर उद्देश्य के लिये प्राण देनेवाले को 'शहीद' कहा जाने लगा। शहादत (साक्ष्य) से बना शहीद (साक्षी) शब्द कालांतर में अर्थांतर प्राप्त करता गया है।

पैगम्बर मुहम्मद के दामाद अली साहब उनके चौथे उत्तराधिकारी थे। पैगम्बर मुहम्मद की बेटी का नाम फातिमा था। फातिमा के दो लड़के थे—इमाम हसन और इमाम हुसेन। पैगंबर मुहम्मद के बाद अबूबकर, उमर, उस्मान और अली ये चार खलीफा हुए, जिनके उत्तराधिकार-काल में किसी प्रकार का विरोध नहीं हुआ. पर अली के बाद इमाम हसन के खलीफा होने पर वंश-परंपरा की स्थापना के आधार पर विरोध हुआ। विरोध की लहर यहाँ तक और कुछ इस प्रकार फैली कि करबला के मैदान में महान् नेता इमाम हुसैन की हत्या कर दी गई। इस आधार पर इमाम हुसैन को इतिहास के सबसे बड़े शहीद के रूप में याद किया जाता है। मुसलमान-संस्कृति ने इन्हें ही प्रथम शहीद के रूप में स्वीकार किया है। तब से, धर्म, ईश्वर राष्ट्र या इतर महत्तर उद्देश्य से प्राण देनेवाले व्यक्ति को 'शहीद' विशेषण दिया जाने लगा। 'शहीद' एक त्यागमय एवं गौरवपूर्ण शब्द है, जिसके समकक्ष मृत्यु भी वरणीय और जीवन उपेक्षणीय माना गया है। 'शहीद' शब्द की पवित्रता भाषांतरों में भी सुरक्षित है।

शहीद के पर्याय प्रतिशब्द में अँगरेजी में Martyr शब्द है। यह शब्द मूल ग्रीक (Martys—Martyr) से लैटिन होता हुआ अँगरेजी में आया है। शब्द का अर्थ-विकास इस प्रकार है—

(1) attributive use as martyr-king [1532]
(2) a constant sufferer [1560]

(3) one who undergoes death (or great suffering) on behalf of any belief or cause, or through devotion to some object [1597]
(4) Witness. [1642]
(5) To mutilate, spoil [1658]
(6) To kill, esp. by a cruel death [1794]
(7) A designation of honour (Connoting the highest degree of saintship for: one who voluntarily undergoes the penalty of death for refusing to renounce the christion faith or for obedience to any law or command of the church, one who suffers death in an suffers's death in an; evil cause [1841]

ग्रीक में Martys (Martyr) का अर्थ Witness (साक्ष्य) ही है। अरबी और अँगरेजी के 'शहीद' तथा तत्पर्याय Martyr शब्दों में अद्भुत अर्थ-साम्य है। दोनों भाषाओं में इन शब्दों का अर्थ है—साक्ष्य-Witness। ग्रीक का Martyr शब्द लैटिन, फ्रेंच और अँगरेजी में भी यथावत् सुरक्षित है। सर्वत्र मूलार्थ भी एक ही है। इसी प्रकार अरबी का 'शहीद' शब्द फारसी, उर्दू और हिन्दी में भी यथावत् सुरक्षित है। इस शब्दार्थ का अँगरेजी की अपेक्षा अरबी प्रयोग प्राचीनतर है।

शिप्ले ने Martyr का एक दूसरा ही मूल अर्थ दिया है। उनकी दृष्टि में Martyr वह है, जिस पर जादू-टोना किया जाता है और जिसकी परीक्षा अग्नि और जल में ली जाती है। इसके बावजूद, यदि वह जीवित है तो समझा जाता है कि उसे प्रेतादि (devil) सहायता कर रहा है और फिर उसकी हत्या कर दी जाती है। यदि वह परीक्षाफल में मर जाए तो उसे निर्दोष समझा जाता है। अतः वह Martyr है—

One suspected of witch-craft might be given the ordeal by fire or the water-test: put her in, if she lives, its proof the devil is helping her, therefore she must be killed. Death, is witness to her innocenee. Similarly, the death of the Martyr is witness to the glory of the Lord." (Dictionary of word origins: Joseph T. Shiply) The Encyclopaedea Britannica भी Martyr शब्द का मूलार्थ Witness ही करता है। उसके अनुसार,— Martyr, a word meaning literally "Witness," and often used in that sense in the New Testament, .During the conflict between paganism and christianity when many christians

"testified" to the truth of their convictions by sacrificing their lives, the word assumed its modern technical sense." अँगरेजी में Martyr से अनेक शब्द बनते हैं जैसे—

Martyrdom, Martyrize, Martyrization, Martyrly, Martyrologe, Martyrology, इत्यादि।

अरबी के शहीद शब्द से उर्दू-हिन्दी में जो शब्द तथा समस्तपद बनते हैं, वे हैं,—

शहीद-स्मारक, शहादतनामा (Martyrology), शहीदी (शहीद होने को तैयार), शहीदी-जत्था, शहीदे-करबला (इमाम हुसैन), शहीदे-वतन इत्यादि।

संस्कृत में 'शहीद' के लिए 'बलिदानी' प्रयुक्त होता है, किन्तु 'शहीद' की सम्पूर्ण अर्थव्याप्ति 'बलिदानी' में नहीं है। शहादत के लिए बलिदान और शहीद के लिये 'बलिदानी' शब्द समानांतर मान लिए गए हैं। बलिदान में 'बलि' शब्द प्रमुख है, जिस पर विचार अपेक्षित है। बलि के संस्कृत में विविधार्थ हैं, जैसे - चँवर का दंड, नैवेद्य पूजा, बलिपशु, राज्यकर, विरोचन-पुत्र, दैत्यराज पंचम महायज्ञ में चतुर्थ, भूतयज्ञ, बल, सिकुड़न (पेट पर) इत्यादि।

'बलि' शब्द की व्युत्पत्ति होगी, बल्यते दीयते इति बलिः (बल (दाने) + इन् = बलिः) इस प्रकार बलि का अर्थ दान या उत्सर्ग भी है। अत. बलि के साथ दान का समास 'दान' की आवृत्ति की तरह प्रतीत होता है। पर बात यह नहीं है। बलिदान एक स्वतन्त्र शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'शहीद का भाव' सार्थकतः लिया जा सकता है।

संस्कृत में बलि से अनेक शब्द बनते हैं—बलिकर, बलिकर्म, बलिदान, बलिद्विट्, बलिद वंशी, बलिनन्दन, बलिपुत्र, बलिसुत, बलिपशु, बलिपुष्ट, बलिभुक्, बलिपोदकी, बलिप्रिय, बलिबंधन, बलिमृत्, बलिभोज, बलिभोजन, बलिमंदिर, बलिवेश्म, बलिमुख, बलिवैश्वदेव, बलिहरण इत्यादि।

शहीद-दृष्टि और शहीद-भावना का स्रोत समाजिकता में है। व्यक्तिगत उद्देश्य के वशीभूत होकर मरनेवाले व्यक्ति को आत्महंता कहते हैं। खुदकशी, आत्महत्या या Suicide व्यक्तिगत उद्देश्य के वशीभूत होकर किया गया हनन-कर्म है। शहादत सामाजिक उद्देश्य की प्रेरणा पर होती है।

सामाजिक कल्याण के महत्तर उद्देश्य से वशीभूत होकर व्यक्ति दो प्रकार से शहीद होता है। एक तो आत्म-हनन द्वारा, जो अनशन, आत्माहुति, आत्मदाह (Self immolation) आत्मार्पण इत्यादि क्रिया से किया जाता है। दूसरे,

हत्या द्वारा, जैसे सामाजिक उद्देश्य के वशीभूत व्यक्ति को विरोधी मार डाले। इस कोटि में गाँधी, लिंकन, नौ अगस्त को झंडा फहराने के क्रम में या स्वतंत्रता की लड़ाई में मरे व्यक्तियों को रखा जा सकता है। इसकी श्रेणियाँ हो सकती हैं। जैसे जानबूझकर हुए शहीद (नौ-अगस्त को झंडा फहराने वाले युवक जानते थे कि वे मार डाले जाएँगे, पर महत्तर उद्देश्य से उन्होंने आत्माहुति दी।) और अनजाने मारे गए व्यक्ति, जैसे दाग हैमर शोल्ड, गाँधी, लिंकन, भंडार नायक, कासिम, हैमागूशी, अमीर हबीबुला इत्यादि। इसे राजनीतिक हत्या या Political assassination कहते हैं। किन्तु assassinated को शहीद भी कहा जाता है। अतः शहीद वही है, जिसकी अकाल मृत्यु हो और जिस मृत्यु को समाज की सामूहिक श्रद्धांजलि प्राप्त हो।

व्यक्तिगत उद्देश्य से उत्तेजित और नान्यथोपाय व्यक्ति का आत्महनन 'आत्महत्या' की घृणित कोटि में रखा जाता है, जिसका वर्जन और विरोध मानव-सभ्यता ने सार्वकालिक और सार्वत्रिक रूप से किया है। भारतीय संस्कृति ने आत्महंता को अंधकार-ग्रस्त असुर-लोक का अधिकारी बताया है,—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।

(ईशोपनिषदः ३)

हत्या और आत्महत्या भी पूज्य और आदरणीय-स्मरणीय हो जाती है, जब उसके पीछे व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक सम्बोध-सद्वृत्ति हो।

कभी-कभी कोई 'हत्या' वर्तमान में हत्या भर होती है, पर बाद में यह शहादत का रूप ले लेती है। जैसे ट्रॉटस्की को उनके वर्तमान ने नहीं, भविष्य ने शहीद की संज्ञा दी।

राजनीतिक संक्रांतियाँ भी इस प्रकार स्वरूप ग्रहण करती हैं। उर्दू की यह उक्ति ऐसी है—'कामयाब बगावत इनक्लाब है, नाकामयाब इनक्लाब बगावत है।'

सामाजिकता वैयक्तिकता से महीयसी है, यह दर्शन शहीद-दृष्टि से भी सिद्ध होता है।

गारुड़वाद

गारुड़वाद प्राचीन भारतीय यौगिक विद्या है, जिसे आज हम भूल गए हैं। विदेशों में यह विद्या Ventriloquism' नाम से विख्यात है। 'Ventriloquism' दो शब्दों के मेल से बना है,—Venter (पेट) और loquism (ध्वनि)। इस पद्धति पर Ventriloquism की हिन्दी होगी,—ध्वनि-दूरांतरण, ऐंद्रजालिक वाणी, शब्द-स्थानांतरण, आमाशयिक ध्वनि-क्षेपण, गारुड़-वाद इत्यादि। इनमें 'गारुड़वाद' नाम अधिक उद्धृत एवं उपयुक्त है। अँगरेजी का Ventriloquism ग्रीक से लैटिन-फ्रेंच होता हुआ आया है।

प्राचीन मिस्र में भी यह प्रथा प्रमुख थी। वहाँ के पुरोहित इस विद्या में निपुण हुआ करते थे। वे मंदिरों में बड़ी-बड़ी मूर्तियों के समक्ष उपासक के रूप में बैठते थे और दर्शकों-पुजारियों के आने पर मूर्ति के माध्यम से स्वयं गारुड़वाद कर रुपए-पैसे प्राप्त करते थे। दर्शक समझता था कि स्वयं देवता बोल रहे हैं। दर्शक की इच्छा के अनुकूल पुरोहित मूर्ति के माध्यम से ध्वनि-दूरांतरण किया करता था। इस विद्या का उपयोग ठगी के लिए होने लगा।

गारुड़वाद में व्यक्ति होंठों को हिलाए बिना, मुँह खोले बिना पेट से बोलता है। ध्वनि स्पष्ट और स्वाभाविक होती है। सफल गारुड़वादी ध्वनि का दूरांतरण भी कर सकता है और कभी दूर से और कभी समीप से आवाज उत्पन्न करा सकता है। यह जादू-टोने की बात नहीं, यौगिक अभ्यास की बात है। मिस्र में यह विद्या बहुत दिनों तक जीवित रही। ग्रीस में भी यह विद्या उसी समय पाई जाती है। ग्रीस का Oracles इसी Ventriloquism के माध्यम से होता था। उन देवमूर्तियों को Speaking Statues कहा जाता था। चीन में भी इस विद्या का अस्तित्व इतिहास-सम्मत है। भारतवर्ष में तो यह विद्या चरम उन्नति पर थी ही।

मेरे अनुमान में इस विद्या के कई आधार हैं। पहला तो धार्मिक-पौराणिक दृष्टिकोण, जिससे निबद्ध होकर सूक्तियों को मूर्तियों के माध्यम से ध्वनित-

भाषित कराकर जनता के मध्य उनके प्रति आस्था उत्पन्न कराना। पौरोहित्य और गारुड़वाद के सहारे पैसे ठगना भी इसी पद्धति-दृष्टि का पतित रूप है। दूसरा आधार यौगिक है। मुनिगण मौन रहा करते थे। बोलने से तपस्या में व्यवधान होता। अतः उन्हें आमाशय से बोलने का अभ्यास करना पड़ा। महावीर तीर्थंकर ने बारह वर्षों तक और महर्षि अरविंद ने चौबीस वर्षों तक मौन-धारण किया था। लोगों से अनावश्यक बातचीत करने से बचने की दृष्टि से भी इसका अभ्यास संभव है। इसके कारणों में, हास्यास्पद होकर भी, आमाशयिक दृढ़ीकरण एक हो सकता है। षट्कर्म में नौली की तरह यह भी एक आमाशयिक कर्म है। कला के रूप में यह अद्भुत उपलब्धि है। मनोरंजन के महत्तम साधन के रूप में भी इसका महत्त्व है।

गारुड़वाद (Ventriloquism)—magic, trick, mismarism, hypnotism या अन्य कुछ जादू-टोना अथवा तंत्रमंत्रादि नहीं है, यद्यपि देखने-सुनने पर यह ऐसा ही आभासित होता है।

आज के संसार में इस कला के जानकार बहुत कम हैं। समस्त संसार में मुश्किल से एक दर्जन इस विद्या के अच्छे जानकार होंगे, जिनमें दो भारत में हैं। भारतीय गारुड़वादी में एक हैं, आर्थर कुक, जो बंग-निवासी भारतीय ईसाई हैं। इनकी इस कला से मुग्ध होकर मोआयरा नामक एक ब्रिटिश-अँगरेज नारी ने इनसे विवाह कर लिया है। दोनों मिलकर इस कला के प्रदर्शन, प्रचार, प्रसार एवं प्रशिक्षण में संलग्न है।

कैंसर या अन्य रोगों से कंठ की शल्यचिकित्सा होने पर जब आदमी की आवाज जाती रहती है, वह गूँगा हो जाता है और वर्तमान मेडिकल सायंस उसकी ध्वनि की पुनः प्राप्ति में कोई सहयोग नहीं कर पाता तो उसे एक गारुड़-वादी आवाज लौटा दे सकता है। गारुड़वाद की इस ध्वनि-प्रक्रिया से वह पुनः बोलने लग सकता है। अमेरिका में इस शास्त्र पर अनुसंधान और प्रयोग हो रहा है। भारतवर्ष में आर्थर कुक महोदय ने ऐसे अनेक सत्कर्म किए हैं।

आर्थर महाशय एक बड़ा डौल (आर्ची) रखते हैं, जिसके माध्यम से स्वयं मौनवत् दीखकर भी बोलते होते हैं।

नारी

साहित्य से 'नारी' को विलग कर देने पर साहित्य का आधांश भी शेष न रहेगा। साहित्य के द्वारा जिस सौंदर्य, सौष्ठव, स्वर-सौषम्य तथा औदात्य का विधान किया जाता है, वह 'कांता-सम्मित' होकर प्रकारांतर से नारी-सौंदर्य ही है। नारी का वर्णन, चित्रण, प्रातीकांकन, अनुबिंबन आदि साहित्य में तो होता ही है, साहित्येतर वाङ्मय, जैसे, वैदिक वाङ्मय, धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, यौनविज्ञान सर्वत्र नारी की महत्ता प्रतिपादित है।

वैदिक साहित्य में नारी को बहुत महत्त्व दिया गया है। धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति' में नारी की महत्ता तो इतनी है कि उसे पूजा के योग्य मान लिया गया—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।' अर्थात् जहाँ नारी की पूजा की जाए, वहाँ देवता रमण करते हैं। कालिदास ने रघुवंश में नारी के पत्नी-रूप का वर्णन इस प्रकार किया है,—

> "गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ
> करुणाविमुखेन मृत्युना हरतां त्वां वद किं न मे हृतम्।"

'अर्थात् तुम ही मेरी पत्नी थीं, सम्मति-दात्री मित्र थीं, एकांत की सखी थीं और गान आदि कलाओं के ललित कार्यों में शिष्या थीं। तुम्हीं बताओ, तुम्हें मुझसे छीनकर निर्दय मृत्यु ने मेरा क्या नहीं छीन लिया! ऐसा करुण विलाप पत्नी इंदुमती के निधन पर अज कर रहे हैं।

कबीरदास ने अपनी उपासना-पद्धति में स्वयं को नारी-रूप में उपस्थित किया है,—

> "हरि मेरा पीर मैं हरि की बहुरिया।"

कुछ कवियों ने नारी के दूषित रूप को चित्रित किया है। इनमें तुलसीदास अग्रगण्य हैं। उनकी नारी-संबंधी पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'विधिहु न नारि हृदय-गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी।'

नारी के संबंध में ऐसी पंक्तियों की मनोवैज्ञानिकता की व्याख्या आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में 'पुरुष और प्रकृति' से सृष्टि का उद्भव बताया गया है। सांख्य-दर्शन इस तथ्य का विस्तृत विवेचन करता है। पुरुष परमात्मा है, प्रकृति आद्याशक्ति नारी है। प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनों गुणों की स्थिति के कारण प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। और नारी प्रकृति का प्रतिशब्द है, इसलिए नारी को भी त्रिगुणात्मिका माना गया है। नारी के इतिहास के परीक्षण से यह सिद्ध होता है कि नारी-चरित्र में त्रिगुणात्मिका-वृत्ति-सम्मत देवत्व, मनुष्यत्व और पशुत्व, तीनों का आरोप हुआ है। इसलिए प्रकृति-पर्याय नारी को सत्त्व-गुण के कारण देवी, रजोगुण के कारण मानवी और तमोगुण के कारण दानवी के रूप में सर्वत्र चित्रित-वर्णित किया गया है। नारी ही प्रकृति है। प्रकृति का मानवीकरण भी साहित्य में प्रायः नारी-रूप में हुआ है। प्रकृतिरूपा नारी वह आद्याशक्ति है, जिससे पुरुष-संयोग से सृष्टि हुई है।

समग्र सृष्टि नारी से ही उद्गत होती है, फिर सृष्टि उसी नारी में अनुप्रविष्ट होती है। यहाँ नारी का विराट् शक्तिरूप कल्पित है। 'मानव' में यह सृष्टितत्त्व थोड़ी भिन्न शब्दावली में इस प्रकार है,—

"पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।"

पति के रूप में पुरुष पत्नी-योषाग्नि में अनुप्रविष्ट होता है और पुत्र के रूप में निर्गत होता है। योषा धात्री बनी रहती है। यही लौरेंस की प्रवेश-द्वार-कल्पना है,—"She is the door of our in-going and out-coming."

'प्रसाद' ने नारी को केवल श्रद्धा माना—"नारी तुम केवल श्रद्धा हो।" 'निराला' ने नारी की शुक्लता को प्रतिष्ठित किया—"वासना की मुक्ति मुक्ता त्याग में तागो।" पंत के लिए नारी "रति-श्रांता-व्रज-वनिता" ही है। मैथिलीशरणगुप्त ने नारी के करुण मातृ-रूप की प्रतिष्ठा की है,—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी ?
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"

कभी-कभी नारी-चरित्र-चित्रण के क्रम में अश्लीलता का प्रश्न उठाया जाता है ! प्राय: नग्न-वर्णन को अश्लील माना जाता है। साहित्य के दोषों में एक 'अश्लीलता' भी है, किंतु इस शब्द का विवेचन अपनी सम्यक् अर्थ-व्याप्ति में नहीं होता। राजशेखर ने अश्लीलता के विश्लेषण में लिखा है कि प्रसंग आने पर ऐसे वर्णन किए जा सकते हैं। यह दोष नहीं हैं। उन्होंने यजुर्वेद का एक निर्दोष उदाहरण भी उपस्थित किया है।

"प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः" इति यायावरीय तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते।

तत्र याजुष—

"योनिरुदूखलं शिश्नं मुशलं मिथुनमे तत् प्रजननन्ते क्रियते।"

अर्थात्, यायावरीय राजशेखर का मत है कि प्रसंग आने पर ऐसे वर्णन करने पड़ते हैं और यह उचित भी है। ऐसे अर्थों का उल्लेख वेदों और शास्त्रों में भी पाया जाता है।

अतः, साहित्य में नारी-वर्णन में अश्लीलता का अनुसंधान निरर्थक बात है। साहित्य के लिए कुछ भी अवर्णनीय नहीं है; हाँ, वर्णन की निस्संगता का निर्वाह अवश्य हो, अन्यथा वर्णन काव्यगुणोपेत नहीं हो पाएगा।

नर और नारी मानव-जाति के ऐसे परस्पर-पूरक अंग हैं, जिनके अपरिहार्य द्वित्व से ही मानव-संस्कृति का सातत्य सुरक्षित है। नारी का भी नर के समान ही महत्त्व है। प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य 'नारी' के विभिन्न पर्याय शब्दों की निरुक्ति या शब्द-व्युत्पत्ति के माध्यम से नारी-जाति के इतिहास, संस्कृति, विकास, गुण, मनोविज्ञान, स्वरूप, व्यक्तित्व इत्यादि का विश्लेषण करना है। इस निबंध में अलग से विश्लेषण-व्याख्या न कर शब्द-निर्वचन के द्वारा ही 'नारी' के विभिन्न गुणों का उद्घाटन उचित होगा।

१. **नारी**—नारी शब्द नर का स्त्रीलिंग-रूप है। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। शब्दरत्नावली, जटाधर, शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्यम्, अमरकोष इत्यादि अभिधान-ग्रन्थों में स्त्री-पर्याय में नारी शब्द का उल्लेख हुआ है। अमरकोष में नारी के आधार-विशेष पर ग्यारह प्रतिशब्द स्वीकृत किये गये है, जहाँ नारी शब्द का भी व्यवहार है—

"स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः
प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा।"[1]

ऋग्वेद में 'नारी' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है, किन्तु यज्ञ के लिए 'नार्यः' शब्द आया है। तैत्तिरीय आरण्यक ६।१।३ और शतपथ-ब्राह्मण ३।५।४।४ में नारी शब्द का प्रयोग हुआ है। नारी शब्द की धातु 'नृ' मानी गई है—नृ + घञ् + ङीन् (नृ + "ऋतोऽञ्" ४।४।४९ अष्टाध्यायी + शार्ङ्गरवाद्यो ङीन्=नारी)।

नृ और नर शब्द से स्त्रीलिंग में ङीन् प्रत्यय हो और वृद्धि भी हो तो 'नारी' शब्द निष्पन्न होता है। 'नृ' शब्द से ऋकार को और 'नर' शब्द से आदि अकार को वृद्धि होती है। 'नृ' शब्द से प्रकृत गणसूत्र से ङीन् प्रत्यय संयुक्त होने पर और ऋकार की 'आर' वृद्धि होने पर 'नारी' शब्द सिद्ध होता है। 'नर' शब्द से भी प्रकृत गण-सूत्र से ङीन् प्रत्यय और अकार की वृद्धि तथा अन्त्य अकार का 'यस्येति च' सूत्र से लोप कर 'नरजातीया स्त्री' नारी रूप बनेगा। 'नृ-नरयोर्वृद्धिश्चनारी।'

नृ (नृणाति) धातु का अर्थ 'प्रापणे' किया गया है। 'नृ—नृणाति प्रापयति आनन्दमिति' कहा गया है। पतंजलि ने इन दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियां को स्वीकार किया है (नुर्धर्म्या नारी, नरस्यापि नारी' महाभाष्य ४।४।९)। शब्दकल्पद्रुम ने भी इसी व्युत्पत्ति को समर्थित किया है—"नुर्नरस्य वा धर्म्या। नुर्नरस्य वा धर्माचारीऽस्याम्। नुर्नरस्य वेयम्। नरधर्माचारयुक्ता।"

यास्क ने नर शब्द को 'नृत्' धातु में निष्पन्न बताया है। नृत्—नर्त्तने, नृती गात्रविक्षेपे। अर्थात् 'नृत्' धातु का नाचने या अंग-संचालन के अर्थ में प्रयोग है। काम करते समय मनुष्य हाथ-पैर का संचालन करता है। इसी भाव के कारण यास्क ने 'नर' को नृत् से निष्पन्न माना है—नराः मनुष्याः नृत्यन्ति कर्मसु।[2]

ऋग्वेद में 'नृ' का प्रयोग वीरतापूर्ण कार्य, दान और नेतृत्व के अर्थ में हुआ है। इसीलिए पुरुष-प्रतिशब्द नर का प्रयोग 'वीर, दाता एवं नेता' के अर्थ में यथास्थान हुआ है। 'नर' के स्त्री-रूप 'नारी' शब्द का भी प्रयोग 'वीरा, दात्री एवं नेत्री' रूप में ही होता रहा है। नारी आखेट और युद्ध में नर की साहसिकता के साथ सहायता करती थी। समागत अतिथियों और भिक्षुकों के सत्कार-दान का दायित्व नारी के ही ऊपर था। नारी के नेतृ-रूप का परिचय समाज का मातृसत्तात्मक (Matriarchy) होने से ही सिद्ध होता है।

ब्राह्मणों में यत्र-तत्र 'नारिः' पाठ 'नारी' के पर्याय में मिलता है। सायण के अनुसार 'नारि' का अर्थ 'न + अरि' अर्थात् नरों का शत्रु न होना या उप-

कारिका होना है,—नृणां महावीरार्थिनाम् उपकारित्वात् नारिः । न अरिः नारिः ।[3]

'नारी' शब्द का व्यवहार साहित्य, मनोविज्ञान, कामशास्त्र, समाजशास्त्र, निरुक्तिशास्त्र इत्यादि कई शास्त्रों में भिन्न-भिन्न अर्थव्याप्ति के साथ हुआ है। मनु ने नारी शब्द का प्रयोग 'पूजा' के अर्थ में किया है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'[4]

जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवता रमण करते हैं। नारी के प्रति इससे अच्छी उक्ति और क्या हो सकती है? नारी के प्रति बाद में विरोध व्यक्त किये गये। गरुड़-पुराण के अनुसार,—

"नद्यश्च नार्यश्च समस्वभावाः स्वतन्त्रता वेगबलाधिकञ्च
तापैश्च दोषैश्च नियातयन्ति नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः
नदी पातयते कूलं नारी पातयते कुलम् ।"

फिर और बाद में व्यक्तिगत अध्यात्म-साधना के आवेश में नारी के प्रति अनेक आक्रोश प्रकट किये गये। अपनी दुर्बलताओं की भर्त्सना न कर नारी-निन्दन किया गया। हठयोग और कामदमन के आसंग में नारी के प्रति कटूक्तियाँ कही गईं,—

"सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं यदि वा सुतम् ।
योनिः क्लिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि नारद ।"[5]

इसी प्रभाव-पीठिका पर तुलसीदास ने लिखा,—

"भ्राता पिता पुत्र उरगारी ।
पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥
होइ विकल सक मनहिं न रोकी ।
जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी ।"[6]

प्राग्वैदिक और वैदिक काल की नारी-महत्ता का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा और पुराण-काल में नारी को स्वभावतः सदोष माना लिया गया,—

"अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ।"

तुलसीदास ने 'नानापुराणनिगमादि' का साक्ष्य देते हुए नारी को निन्दित करने में आनन्द का अनुभव किया है,—

"नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं,
अवगुन आठ सदा उर रहहीं ।
साहस अनृत चपलता माया,
भय अविवेक असौच अदाया ।"[7]

तुलसीदास ने अन्य एकाधिक स्थलों पर भी नारी का निंदन किया है,—

"विधिहु न नारी हृदय-गति जानी ।
सकल कपट अघ अवगुण खानी ।"

\+ +

"अधम ते अधम अधम अति नारी :
तिन्ह महँ मैं मति मन्द गँवारी ।"

\+ +

"जिमी स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी ।"

\+ +

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी ।
ये सब ताड़न के अधिकारी ।"[8]

इत्यादि पंक्तियों से नारी के प्रति तुलसीदास का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है । रामचरितमानस एक उत्कृष्ट काव्य, 'स्वांत: सुखाय' माध्यम के साथ एक व्यापक आचार-संहिता भी माना गया है । इसलिए नारी के प्रति तुलसीदास का वैयक्तिक कुण्ठा से उत्पन्न आक्रोश व्यापक प्रभाव धारण करता है ।

'त्रिया के चरित्र' को मनुष्य तो क्या दैव भी नहीं जानते हैं । अत: नारी के इस रहस्यमय रूप से आकर्षण से अधिक विकर्षण ही दिखाया गया । गर्ग-संहिता में उल्लेख है,—

"दुर्जना: शिल्पिनो दासा: दुष्टाश्च पटहा स्त्रिया:
ताडिता मार्दवं यान्ति नैते सत्कारभाजिन: ।"

मध्यकाल के नारी-विरोधी आंदोलन की ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि समग्र 'रीतिकाव्य' मुख्य-रूप से नारी के केंद्रण में ही लिखा गया । आधुनिक काल में नारी को 'रमणी' रूप से उत्थित कर 'महिला' रूप में प्रतिष्ठित किया गया । 'प्रसाद' ने नारी के अन्य समग्र लक्षणों को गौण मानते हुए उसे श्रद्धोपेत माना,—

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो ।"

निराला ने भी अपने चित्रण में नारी को 'वासना' से ऊर्ध्व-स्थापन किया,—

"वासना की मुक्ति मुक्ता त्याग में तागी।"

सामासिक रूप से यह कहा जा सकता है कि 'नारी की अर्थव्याप्ति में परिवर्तन होता रहा है। प्राग्वैदिक काल और वैदिक काल में नारी की पुरुष से भी अधिक महत्ता थी और नहीं तो नारी पुरुष के समानान्तर अवश्य थी। पुराण-काल में नारी रमणी और भोग्या बनकर कहीं स्वीकरणीया, कहीं त्याज्या बनी रही। भक्तिकाल में नारी को 'असूर्यम्पश्या' बना दिया गया। घोर उपेक्षा और तिरस्कार का भाव भी मध्ययुग में ही पराकाष्ठा पर पहुँचा। रीतिकाल में भोगलिप्सा का पुनः उदय हुआ और आधुनिक काल में नारी की महत्ता का सर्वपक्षतः वर्णन होने लगा है। नारी सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक अधिकार इत्यादि अनेक स्तरों पर नर के समानांतर-समकक्ष बन गई है या बनती जा रही है।

नारी के सम्बन्ध में परिवर्तनशील विचारों के आधार का अनुसन्धान आवश्यक है। भारतीय संस्कृति और दर्शन सृष्टि के जिन दो तत्त्वों को कारणीभूत मानता है, वे हैं पुरुष और प्रकृति। सांख्य-दर्शन विशेष रूप से उत्पत्तिवाद की इत्थंविध व्याख्या करता है। 'पुरुष' परमेश्वर है और 'प्रकृति' त्रिगुणात्मिका-वृत्तिमती शक्ति। पुरुष और प्रकृति को नर और नारी में प्रतीकित किया गया है। अतः नारी प्रकृति-पर्याय होने के कारण त्रिगुणात्मिका है। नारी में सत्त्व, रजस् एवं तमस् का होना स्वाभाविक है। सत्त्वमयी होने के कारण नारी 'पूज्या' और 'सर्वोत्तमा' आद्यशक्तिस्वरूपा है। रजोमयी होने के कारण नारी उपभोग्या आकर्षणीया और सृष्टि-संरक्षिका-रूप से प्रजननशीला है तथा रजोमयी होने के कारण त्याज्य और अधम है। समाज, सभ्यता, संस्कृति, दर्शन आदि के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के कारण नारी के इन्हीं तीनों रूपों का ऊर्जस्वित-कलंकित भाव से वर्णन-चित्रण हुआ है। इसीलिए नारी कभी देवी, कभी विलासिनी और कभी उपेक्षणीया बनी है। इससे यह भी प्रमाणित है कि नारी के व्यक्तित्व का ध्रुवांतर विस्तार नर से अपेक्षया अधिक है।

(२) **महिला**— यह शब्द 'मह्' धातु से व्युत्पन्न है। 'मह्' का अर्थ है पूजा करना—मह् पूजायाम्। मह् + इलच् + टाप् = महिला — मह् पूजायाम् + 'सलिकल्यनि महीति' उणा० १।५५ इति इलच् + टाप्। अमरकोष में इसके स्त्री और प्रियंगुलता दो अर्थ हैं। महिला मे महिमा का भाव सुरक्षित है—

मह्यत इति महिला। राजनिर्घंट में महिला का 'रेणुकानामकगन्धद्रव्यम्' और शब्दरत्नावली में 'मदमत्ता स्त्री' अर्थ किये गये हैं। महिला के लिए 'महिलाह्वया' शब्द भी प्रयुक्त होता है, जिसके अन्य अर्थ भी दिये गये हैं। अमरकोष और शब्दकल्पद्रुम में महिलाह्वया का 'प्रियंगुलता' ही अर्थ है। भावप्रकाश में महिलाह्वया के पर्याय हैं,—[महिला इत्याह्वयो यस्याः]—

"प्रियंगु फलिनी कान्ता लताः च महिलाह्वया।
गुन्द्रा गुन्द्रफला श्यामा विष्वक्सेनाङ्गनाप्रिया॥"[१]

इन शब्दार्थों से नारी का महिमामय रूप स्पष्ट होता है, जो 'महिला' शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ में सुरक्षित है। बाद में इस शब्द का मूलार्थ प्रयोग में विस्मृत होता गया। नारी की आदिकालीन मातृसत्तात्मक महत्ता का अनुसंधान इस शब्द से किया जा सकता है। समग्र सृष्टि एक आद्यशक्ति से उद्गत मानी जाती है। नारी उस आद्यशक्ति को प्रतिनिधित करनेवाली महिमामयी महिला है।

(३) **स्त्री**—नारी के पर्याय-शब्दों में 'स्त्री' शब्द की प्रमुखता स्पष्ट है। सामान्य बोलचाल में स्त्री शब्द का व्यवहार होता है।

वैदिक साहित्य में 'स्त्री' शब्द का भूयिष्ठ प्रयोग मिलता है। पालि-प्राकृत-अपभ्रंश में और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में भी यह शब्द व्यवहृत होता रहा है। 'स्त्री' शब्द में 'स्त्यै' धातु है। यास्क ने 'स्त्यै' धातु का अर्थ लज्जा से संकुचित होना बताया है। स्त्री का सबसे बड़ा आभूषण व्रीड़ा या लज्जा ही है।—'स्त्रियः स्त्यायतेः अपत्र-पणकर्मणः' [निरुक्त ३।२१।२]। दुर्गाचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—'लज्जार्थस्य लज्जन्तेऽपि हिताः।' अर्थात् स्त्री की आख्या लज्जाशीलता के कारण ही सार्थक है। बृहद्धर्मपुराण में इस बात का समर्थन है;—"पुंसां भूषा तु सद्बुद्धिः स्त्रीणां भूषा सलज्जता"। पाणिनि के धातुपाठ में यह अर्थ मान्य नहीं है। उनके अनुसार 'स्त्यै' का अर्थ शब्द करना तथा एकत्र करना है। 'स्त्यै शब्दसंघातयोः' [धा. पा. १।९३५]। 'स्त्यै' धातु से 'शब्द' इस अर्थग्रहण के आधार पर 'स्त्री' का अर्थ शब्द करने-वाली अर्थात् अधिक बोलनेवाली किया जा सकता है। नृतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के आधार पर अनेक स्थलों पर स्त्री को पुरुष की अपेक्षा अधिक बकवादी माना गया है। अतः 'स्त्री' शब्द की यह शब्दाश्रित व्याख्या उचित मानी जा सकती है, किन्तु इसकी सिद्धि किसी शास्त्र या उद्धरण से नहीं होती।

पाणिनि ने 'स्त्री शब्द के प्रसंग में अनेक सूत्रों की रचना की है,—

स्त्रियाः ६।४।७९, स्त्रिया पुंवद्भाषितं ६।३।३४, स्त्रियां संज्ञायाम् ५।४।१४३, स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४, स्त्रियांच ७।१।९६ स्त्रियाम् ४।१।३, स्त्रियामवन्तिकुतं ४।१।१७६, स्त्री पुंवच्च १।२।६६, स्त्रीपुंसाभ्यांनञ्स्नञौ ४।१।८७, स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०, स्त्रीपु सौवीरसाल्वं ४।२।७६, पुमान् स्त्रिया १।२।६७।

पतंजलि ने अष्टाध्यायी के 'स्त्रियाम्' सूत्र के भाष्य में 'स्त्री' शब्द के अनेक पक्षों पर विचार करते हुए लिखा है— स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः [महाभाष्य]। यह स्त्री के बाह्य लक्षण हैं। शब्दकल्पद्रुम में भी इसी आधार पर 'स्त्री' की व्याख्या में कहा गया है— स्तनयोन्यादिमती। शब्दकल्पद्रुम में स्त्री के सत्तावन पर्यायवाची शब्द उपस्थित किये गये हैं। पतंजलि ने 'स्त्यै' धातु से स्त्यायति अस्यां गर्भ इति स्त्री' अर्थात् गर्भ की स्थिति [पिंड] धारण करने के कारण ही 'स्त्री' आख्या स्वीकार की है। क्षीर-स्वामी ने भी इसी अर्थ की पुष्टि की है।

पतंजलि ने स्त्री शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'शब्दस्पर्श-रूपरसगन्धान्तं गुणानां स्त्यानं स्त्री।' अर्थात् स्त्री—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन सबों का स्त्यान या समाहार है। महाभाष्य टीकाकार कैयट ने स्त्यान का अर्थ तिरोभाव किया है। कैयट के विचार के अनुसार उपर्युक्त शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध ये पाँचों—सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के परिणाम हैं। इन गुणों का आविर्भाव पुंस्त्व का, तिरोभाव स्त्रीत्व का और स्थिति नपुंसकत्व का परिचायक है। नागेश ने कैयट के सिद्धान्त का समर्थन किया है। सांख्य-दर्शन में इन तीनों गुणों का विस्तृत वर्णन है। प्रत्येक वस्तु में तीनों गुण विद्यमान हैं।

"स्त्यायति गर्भो यस्यामिति स्त्री—स्त्यै + ड्रट् (स्त्याते ड्रट्—उणाः ४।१६५) के अतिरिक्त स्त्री की व्याख्या 'स्त्यायतः शुक्रशोणिते यस्याम् (स्त्यै संघाते) भी की गई है। Sir Monier Williams, M.A;K.E.I.E. ने अपने कोश में थोड़ी भिन्नता के साथ विचार किया है—"Perhaps for Sutri or Sotri—bearer of children—√Su a woman, female, wife. The female of any animal." स्त्री शब्द में जो 'स्त्यै' धातु है, कविकल्पद्रुम में इस प्रकार अर्थ है—"स्त्यै संहतौ ध्वनौ (भ्वा. पर. अक. अनिट्)।

स्त्री शब्द के 'स्त्यै' धातु में 'स्त्यान' का अर्थ समुच्चय या संघात औचित्य-पूर्ण है। पतंजलि ने नारी को शब्द-स्पर्शादि का स्त्यान या संघात या समुच्चय कहा है। इनके भी पूर्व यास्क ने ऋग्वेद की एक ऋचा पर टिप्पणी

लिखते हुए कहा है— 'स्त्रय: एवं एता: शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्य:'' (नि. अ. १४ ख. २०) । स्त्री शब्दस्पर्शादि पंचज्ञानेंद्रिय का विषय एवं अधिष्ठान है। इसी संधात या स्त्यान के कारण स्त्री में आकर्षणीयता है । आचार्यों एवं व्याख्याताओं ने पंचज्ञानेंद्रिय-स्त्यान में स्त्रीत्व की कल्पना की है। यह भी एक कारण हो सकता है कि साधकों ने विषयों या पंचज्ञानेंद्रिय से दूर रहने का तात्पर्य स्त्री से दूर रहना बताया है । अतः स्त्रीत्व में पंचज्ञानेंद्रिय-स्त्यान की पर्यायता सिद्ध होती है। इसी व्याख्या के आधार पर अपनी दुर्बलताओं से पीड़ित संतों की स्त्री-संबंधी कटूक्तियों का खंडन एवं आधारहीनता प्रमाणित हो जाती है। स्त्री के संबंध से जितनी कटूक्तियाँ हैं, वे सभी कटूक्तिकार का मनोविश्लेषण करती हैं। ब्रह्मवैवर्त में कथन है,—

''जितेन्द्रियैर्जितक्रोधैः स्त्रीरूपं मोहकारणम् ।
मोक्षद्वारकपाटञ्च हरिभक्ति विरोधनम् ।''[10]

स्त्री को असूर्यंपश्या बने रहने में ही औचित्य एवं पातिव्रत्य की सार्थकता है,—

''असूर्यम्पश्या वा रामाः शुद्धास्ताञ्च पतिव्रताः ।''[11]

स्वतंत्रता नाम की चीज तो स्त्री के लिए है ही नहीं,—

''अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ।
पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।''[12]

इस प्रकार की स्त्री-निंदक पंक्तियाँ सहस्रों की संख्या में उपस्थित की जा सकती हैं, जिनके मूल में निंदन-कर्त्ता का सर्वपक्षतः सापेक्ष मनोविश्लेषण या चित्त विकलन करना अनिवार्य है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के संतानोत्पत्ति-विज्ञान अथवा पुत्रमन्थन-कर्म खंड में स्त्री की सृष्टि का विवरण है। इस प्रसंग में पहले रेतस् या शुक्र और फिर शुक्रधात्री स्त्री का वर्णन इस प्रकार है—

''एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषध ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ।

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियं ससृजे तां सृष्टवाध उपास्त तस्मात् स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत ।'[13]

अर्थात् इस सभी भूतों का रस पृथिवी-पृथिवी का रस जल है, जल का रस ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस पुष्प है, पुष्पों का रस फल है, फलों का रस (आधार) पुरुष है तथा पुरुष का रस (सार) शुक्र है ।

प्रजापति ने विचार किया कि मैं इस वीर्य की स्थापना के लिए किसी योग्य प्रतिष्ठा (आधार-भूमि) का निर्माण करूँ, अतः उन्होंने 'स्त्री' की सृष्टि की। उसकी सृष्टि कर उन्होंने उसके अधोभाग की उपासना की (मैथुन-कर्म का विधान किया), अतः स्त्री का अधोभाग सेव्य है। प्रजापति ने इस उत्कृष्ट गतिशील प्रस्तरखंड-सदृश पुरुष-जननेंद्रिय की सृष्टि कर उसे स्त्री के उपस्थ कि आर प्रेरित किया।

स्त्री की पवित्रता के संबंध में भी बहुत वर्णन है। मनु ने जिस विचार को प्रस्तुत किया, वह परवर्त्ती काल में बहुधा समर्थित होता रहा—

'स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।
मासि मासि रजो यासां दुष्कृतान्यपकर्षति ।''

भारतीय पौराणिक कल्पना के अनुसार परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में स्त्री और पुरुष इन दो खंडों में अपने को विभक्त कर दिया,—

''स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधा रूपो बभूवह ।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः''

'स्त्री' में लक्ष्मी का निवास माना गया है,—

स्त्रीनाम्नो श्रीश्च विज्ञेया ।'[14]

याज्ञवल्क्य के आदेश के अनुसार सभी सम्बन्धी स्त्री का सम्मान करें,—

''भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्याः।[15]

स्त्री के सम्मान में सप्तशती चंडी की सूक्ति इस प्रकार है,—

''विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।''

मनुस्मृति में स्त्री को श्री की पर्यायता दी गई है,—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः
स्त्रियः श्रियश्च लोकेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।[16]

स्कंदपुराण के अनुसार सती स्त्री अपने सतीत्व के बल से हजारों मनुष्यों का उद्धार करती है,—

''पुरुषाणां सहस्रं च सती स्त्री हि समुद्धरेत् ।''[17]

भरत ने स्त्रियों का वर्गीकरण एवं चरित्र-विवेचन नाट्यशास्त्र में किया है। इस प्रकार स्त्रियों के संबंध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का धर्मशास्त्रपुराणादि में वर्णन है।

(४) अबला—नारी का यह नाम शारीरिक बल के आधार पर रखा गया है। नारी पुरुष की अपेक्षा अल्पबलवती होती है। अल्पं बलं यस्याः—अबला (अल्पार्थनञ्)। या— नास्ति बलं यस्याः सा। कालिदास ने वियुक्त यक्ष का वर्णन करते हुए लिखा है,—

यक्ष अबलाविप्रयुक्त अर्थात् पत्नीवियुक्त है। अबला के अनेक अर्थ हो सकते हैं। नारी आद्यशक्तिस्वरूपा भी मानी जाती है। वैसी नारी को 'अबला' क्यों कहा गया? यह आश्चर्य की बात हो सकती है। किन्तु यह बलाभाव शारीरिक ही है। नारी की मानसिक सबलता का उल्लेख सर्वत्र है। ऋग्वेद में एक ऋचा के द्वारा नारी को मनसा सबला एवं स्वस्थ-मस्तिष्कीन माना जाता है,—

'स्त्रिया अशास्यं मनः'[18]

'अबला' शब्दार्थ का संकेत सुकुमारता, कोमलता एवं मृदुलता की ओर भी हो सकता है। इन गुणों को नारी के शृंगार और सौन्दर्य के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। अतः नारी का 'अबला' होना उसके मसृण-मृदुल सौंदर्य-भाव को व्यक्त करता है।

आधुनिक काल में 'अबला' की भिन्न व्याख्या की गई। 'अबला' के साथ करुणा एवं दयादि भाव संलग्न किये गये। मैथिलीशरण गुप्त ने इसी रूप को व्यक्त किया है,—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

(५) योषा—नारी के लिए 'योषा' का प्रयोग भाषा के प्राचीनतम काल से होता रहा है। यु मिश्रणे + बातुलकात् स + स्त्रियां टाप्=योषा (उज्ज्वलदत्त के अनुसार)। यु—यौति मिश्रीभवति इति। दुर्गादास के अनुसार नारी का नाम 'योषा' इसलिए है कि वह पुरुष के साथ अपने को संयुक्त या मिश्रित करती है अथवा जोड़ती है। 'योषा यौतेः मिश्रणार्थस्य, सा हि मिश्रयति आत्मानं पुरुषेण साकम्।[19]

देवी भागवत में 'योषा' का प्रयोग इस प्रकार हैं,—

"यथा दारुमयी योषा नटादीनां प्रचेष्टते ।
तथा स्वकर्मवशगो देही सर्वत्र वर्त्तते ।[20]

ऋग्वेद में योषा का प्रयोग प्रेमी और प्रेमिका के प्रसंग में हुआ है । प्रेमी की दृष्टि में प्रेमिका सुन्दर लगती है,—

"योषा जारस्य चक्षुषा विभाति ।"[21]

'योषा' की अवध्यता शतपथ-ब्राह्मण में इस प्रकार है,—

"न वै योषा कंचन हिनन्ति ।"[22]

उपनिषदों में योषाग्नि का उल्लेख है । वृहदारण्यकोपनिषद् में राजा जैवली प्रवाहण गौतम को उपदिष्ट करते हुए योषाग्नि का उल्लेख करते हैं । वे कहते हैं, 'हे गौतम, स्त्री (योषा) ही अग्नि है । उपस्थ ही उसकी समिध् है, लोम धूम है, योनि ज्वाला है, मैथुनक्रिया अंगार है, आनन्दलेश विस्फुलिंग है । इस अग्निकुण्ड में देवगण रेतस् का होम करते हैं । उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है । वह कर्मशेष तक जीवित रहता है और जब मरता है, तब इसे अग्नि के पास ले जाते हैं । उस आहुतिभूत पुरुष की अग्नि अग्नि होती है, समिद्ध समिद्ध होतो है, धूम धूम होता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अंगारे अंगारे होते हैं और विस्फुलिंग विस्फुलिंग । इस अग्नि में देवगण पुरुष को होमते हैं । इस आहुति से पुरुष अत्यन्त दीप्तमान हो जाता है,—

"योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एवं समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गाराः अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा क्रियते,—

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित् समिद् धूमोऽर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ।'[23]

इस प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति योषाग्नि से और अंत्येष्टि जातवेदस् अग्नि में होती है । अग्नि का जीवन में सर्वाधिक महत्त्व है । जीवन और जगत् में द्युलोकाग्नि, पर्जन्याग्नि, इहलोकाग्नि, पुरुषाग्नि और योषाग्नि का समाहार 'पंचाग्नि' हैं । इस पंचाग्नि-विद्या के सम्यक् ज्ञाता को सत्य (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है । ईशोपनिषत्कार भी 'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्' कहकर अग्नि की महत्ता को स्थापित करते हैं । अतः योषाग्नि को उत्पत्तिस्थान मान

कर 'योषा' के रमणी मातृरूप को उद्भासित किया गया है। D. H. Lawrence नारी के इसी योषा-रूप को स्वीकार करते हैं, जिसके केवल दो पक्ष हैं—रमणी और माँ। नारी के संबंध में उनकी प्रतिपत्ति है,—

"She is the door for our in-going and our out-coming."[24]

इसीलिए उन्होंने "Sons and Lovers" लिखा। पुरुष के लिए नारी के दो ही वास्तविक रूप स्वीकार्य हो सकते हैं—पत्नी और माँ। पति के रूप में पुरुष योषाग्नि में अनुप्रविष्ट होता है और पुत्र के रूप में योषाग्नि से निर्गत। 'मानव' में इसी तथ्य का उल्लेख दूसरी शब्दावली में मिलता है,—

"पतिर्भार्य्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।"

'योषा' शब्द जिस 'यु' धातु से निष्पन्न है, उससे भी नारी का नर के साथ संपृक्ति-तद्रूपत्व स्पष्ट होता है।

(६) **योषित्**—नारी के इस पर्याय का प्रयोग लौकिक संस्कृत में अधिक है। युष् भजने + "हृसृरुहियुषिभ्य इतिः"।—उणा १-९९। इति इतिः।— योषित् = नारी। शब्दकल्पद्रुम इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार करता है,—"योषति पुमांसं युष्यते पुंभिरिति वा।" अर्थात् जो पुरुष की उपासना करे या जिसकी उपासना पुरुष करे। 'योषति पुमांसं' व्याख्या के आधार पर नारी का वह अर्धांगिनी-रूप स्पष्ट होता है, जिसके द्वारा वह अपने समग्र कामिनीत्व से पुरुष को वशीभूत करती है और युष्यते पुंभि:' के द्वारा मनु की सूक्ति 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' की पुष्टि होती है। कालिदास ने इस शब्द का उल्लेख मेघदूत में इस प्रकार किया है,—

"गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तम्।
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।"[25]

वह्निपुराण में 'योषित्' के अवध्यत्व का उल्लेख है,—

"तं प्रेक्ष्य भरतं श्रेष्ठं शत्रुघ्नो वाक्यमब्रवीत् अवध्याः सर्वभूतानां योषितः क्षम्यतामिति।"[26]

(७) **योषिता**—(योषित् + टाप्) योषिता शब्द भी योषित् का पर्याय है—(युष् + इतिः + टाप् = योषिता) मुंडकोपनिषद् में योषिता का प्रयोग आया है,—

"तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायाम्
बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूता ।"[27]

यहाँ भी रेतस् से सिंचित होनेवाली योषिता का कामिनी–गर्भधारिणी-रूप से चित्रण है।

(८) जोषा—(जुष् + घञ् + टाप्) नारी के प्रतिशब्द जोषा में 'जुष्' धातु का अर्थ उपयोग या सेवन के अर्थ में है—जुष्यते उपभुज्यते इति जोषा। शब्दरत्नावली और शब्दकल्पद्रुम दोनों इस व्युत्पत्ति की पुष्टि करते हैं। इस शब्द में नारी का कामिनी-रमणी-रूप अधिक ग्राह्य है।

(९) जोषित्—(युष्यते उपभुज्यते। युष् + 'हृसृरुहियुषिभ्य इतिः।' उणा १-९ इति प्रत्ययः। पृषोदरादित्वात् यस्य जः)—जोषित् शब्द योषित् का ही आद्याक्षर-परिवर्तित-पर्याय-रूप है।

(१०) जोषिता—(जोषित् + टाप्—युष् + इतिः = योषित्। पृषोदरादित्वात् यस्य जः।—जोषित्। जोषित् + हलन्तत्वाद् वा टाप् = जोषिता। अतः जोषिता शब्द योषिता ही है।

इस प्रकार नारी के योषा, योषित्, योषिता, जोषा, जोषित्, जोषिता इत्यादि पर्याय व्युत्पत्तितः समानार्थी शब्द हैं। शब्दरत्नावली में नारी के पर्याय वाची शब्दों में इन छहों शब्दों का भी उल्लेख हुआ है—

"स्त्री वधूरबला नारी प्रिया रामा जनिर्ज्जनी
योषा योषिद्योषिता च जोषिज्जोषा च जोषिता।"

(११) वामा—यह शब्द 'वाम' में टाप् प्रत्यय लगने से बना है। 'वाम' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है विपरीत या प्रतिकूल। कालिदास ने इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है - 'स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन् हस्तमलक्ष्यताजौ।,'[28] वैराग्यशतकम् में वाम का अर्थ प्रतीक है। 'वाम' का प्रयोग 'अधम' के अर्थ में आह्निकातत्त्वम् तथा सिद्धांतकौमुदी में हुआ है। ऋग्वेद में वाम वननीय (याचनीय) के अर्थ में प्रयुक्त है,—

"अभिनो नर्य्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम्।
वामं गृहपतिं नय।"[29]

इसके भाष्य में सायण ने लिखा है,—

"वामं वननीयम्" (वननीयं याचनीयं वनु याचने इत्यस्य प्रयोगो ज्ञातव्यः ।)

अतः नारी के पर्याय 'वामा' शब्द में इन अर्थों का अनुसंधान संभव है। उपर्युक्त अर्थों में 'वाम' की 'वम् उद्गिरणे' धातु है। इस अर्थ में 'वामा' की व्याख्या इस प्रकार होगी—वम् + ज्वलादित्वात् अण् + टाप् = वामा।" वमति सौंदर्यम् इति। यद्वा वमति प्रतिकूलमेवार्थं कथयति। यद्वा वामः कामोऽस्त्यस्या इति अर्श आदिभ्योऽच्।" इस व्याख्या'वामा' में[30] 'वम्' धातु उद्गिरणे के अतिरिक्त 'वा' धातु भी स्वीकृत की जाएगी। वामा—वातीति। वा गतिगन्धनयोः + मन्। 'वा' धातु के अनेक अर्थ हैं, जैसे, हर, कामदेव, पयोधर। भागवत में 'वाम' का अर्थ ('वा धातु-पूर्वक) हर और मेदिनी में कामदेव एवं पयोधर है। भागवत में 'वाम' का प्रयोग भद्रा से उत्पन्न श्रीकृष्ण के पुत्र-विशेष के लिए भी हुआ है। 'वा' धातु के साथ 'वामा' का अर्थ वाम (काम) वाली या वाम (पयोधर) वाली किया जाएगा। किन्तु वामा की प्रमुख व्याख्या सौन्दर्य बिखेरनेवाली के अर्थ में ही प्रसिद्ध है—'वमति सौन्दर्यम्'।

अमरकोष ने नारी के पर्यायवाची शब्दों के साथ 'वामा' को स्थान दिया है—'प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा।"[31] 'शब्दकल्पद्रुम' वामा के अर्थ में 'सामान्या स्त्री'[32] लिखता है। जयदेव ने गीतगोविंद में 'वामा' का प्रयोग किया है,—

"श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामां
पश्यति सस्मितचारुपरामपरामनुगच्छति वामाम्!"[33]

देवीपुराण में वामा 'दुर्गा' के साथ एक ऐसी नारी है, जो हाँ में नहीं और नहीं में हाँ कहनेवाली है,—

वाम विरुद्धरूपन्तु विपरीतन्तु गीयते
वामेन सुखदा देवी वामा तेन मता बुधैः।[34]

कालिकापुराण में यज्ञयागादि-प्रक्रिया में दक्षिण के विपरीत वामा का प्रयोग हुआ है,—

"सर्वत्र पितृदेवादौ यस्माद्भवति दक्षिणः।
देवी च दक्षिणा यस्मात्तस्माद्दाक्षिण्यमुच्यते।
या पुनः पूज्यमानातु देवादीनान्तु पूर्वतः।
यज्ञभागं स्वयं धत्ते सा वामा तु प्रकीर्त्तिता।"[35]

वामा (नारी) के अर्थ में ही 'वामाक्षी' और 'वामलोचना' शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। यहाँ 'वामा' शब्द का अर्थ सुन्दर गृहीत है—वामे मनोहरे अक्षिणी अस्याः—वामाक्षी। वामे सुन्दरे लोचने यस्या– वामलोचना। वाम शब्द से संयुक्त कर 'वामोरूः' शब्द भी बनता है – वामौ सुन्दरौ ऊरू यस्याः—वामोरूः। वामिका (वामा + स्वार्थे कन् + टाप्) का प्रयोग नारी के साथ चंडिका के अर्थ में भी प्रयुक्त है।

'वाम' शब्द के अनेकार्थों में केवल विपरीत और सुन्दर को गृहीत करने से अंगरेजी के दो समानांतर शब्दों की सिद्धि होती है—Oppositc sex तथा Fair sex। संस्कृत का विपरार्थी वाम शब्द शारीरिक वैपरीत्य के साथ स्वभाव इत्यादि का भी अर्थ रखता है।

'वाम' शब्द में वैपरीत्य, आकृतिक भिन्नता, सुन्दरता, पयोधर-धारण, काम प्रातिकूल्य इत्यादि अर्थ अध्युषित हैं। समय-समय पर इन अर्थों का विकास-ह्रास होता रहा है।

(१२) मेना—मेना शब्द स्त्री का एक ऐसा पर्यायवाची शब्द है, जिसका वैदिक वाङ्मय में भूयिष्ठ प्रयोग है। आज 'मेना' में स्त्री-पर्यायता सुरक्षित नहीं रही। संस्कृत और हिंदी में 'मेना' पार्वती की माता के अर्थ में ही विहित-स्वीकृत है। मेना में 'मान्' धातु है—मान्यते पूज्यते इति मेना। मान् पूजायाम् + इनच् = (निपातपूर्वक) मेना। यास्क के अनुसार मेना की व्युत्पत्ति है—मानयन्ति एनाः (पुरुषाः)[36] अर्थात् जिसे पुरुष स्नेह-सम्मान दे, वही मेना है। ऋग्वेद में मेना का स्त्री-पर्याय में प्रयोग इस प्रकार है,—

"भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदंसाः।"[37]

सायण ने इसके भाष्य में 'मेनेति' स्त्रीनाम। मेने स्त्रीरूपमापन्ने रोदसी।' लिखकर मेना का अर्थ स्त्री किया है। ऋग्वेद में ही मेना का प्रयोग वृषणश्व-कन्या के अर्थ में भी हुआ है,—

"मेना भवो वृषणश्वस्य।"[38]

सायण ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है—"हे इन्द्र! त्वं वृषणश्वस्य एतदाख्यस्य राज्ञो मेना भव मेनानाम कन्यका भूः।"

निघंटु में मेना का अर्थ वाक्[39] है। शब्दकल्पद्रुम में मेना का अर्थ और व्युत्पत्ति का विचार इस प्रकार है,—

"मानपूजायां इत्यस्मात् 'बहुलमन्यत्रापि इनच् भवति ।' इति वचनादिनच् । बहुल ग्रहणात् नलोपः । पूज्यतेऽ नया गुर्वादिरुपदेशवाक्येन पूज्या वा देवतात्वात् ।"[40]

"करिषिणीमसिक्नीञ्च कुशचीरां महानदीम् ।
मरुहीं प्रवरां मेनां हेमां घृतवतीं तथा ।"[41]

कालिदास ने मेना का प्रयोग हिमालय की पत्नी या पार्वती की माता के अर्थ में किया है,—

"स मानसीं मेरुसखः पितृणां कन्यं कुलस्य स्थितिज्ञः
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ।"[42]

अर्थात् सुमेरु के मित्र और मर्यादा से अभिज्ञ हिमालय ने अपना वंश चलाने के लिए मेना नामक उस कन्या से शास्त्रानुकूल विवाह किया, जो पितरों के मन से उत्पन्न हुई थी, जिसका मुनिगण भी आदर करते हैं, जो हिमालय के समान ही ऊँचे कुल और शीलवाली है ।

स्त्री के पर्याय में प्रयुक्त 'मेना' शब्द का लौकिक संस्कृत में भी तदर्थ-भिन्नार्थ में प्रयोग होता रहा और साथ ही मेना के ध्वनिसाम्य पर मान्या शब्द आविस्कृत कर लिया गया—मेना—माना—मान्या ।

मेना का अर्थ 'वाक्' होने से स्त्री-पर्याय में इस शब्द का अर्थ 'वाणी' या 'सरस्वती' की अर्थध्वनि से अन्वित है । 'मेना' शब्द की व्युत्पत्ति 'मान्' धातु से होने के कारण इसमें 'महिला' शब्द का अर्थसाम्य है । कालिदास ने हिमालय-पत्नी के रूप में मेना के प्रयोग के क्रम में उसे पितरों के मन से उत्पन्न अर्थात् मानसी कहा है । इस व्याख्या से मेना की मननशीलता स्पष्ट होती है । 'मेना' व्युत्पत्तितः 'मान्या' तो है ही ।

(१३) **ग्ना**—ग्ना शब्द ऋग्वेदादि में स्त्री-पर्याय में प्रयुक्त शब्द है । लौकिक संस्कृत में यह शब्द नहीं मिलता । यास्क ने 'ग्ना' का प्रयोग स्त्रीपर्याय में किया है ।

"मेना ग्ना इति स्त्रीणां स्त्रियस्त्यायतेरपत्रपणकर्म्मणः । मेना मानयत्येनाम् । ग्ना गच्छन्त्येनाः ।"[43]

अर्थात् पुरुष जिसके समीप जाय । दुर्गाचार्य ने इसका तात्पर्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि पुरुष संसर्ग की कामना से जिसके पास जाएँ और गमन करें वह ग्ना है । लौकिक संस्कृत में 'ग्ना' शब्द तो नहीं मिलता, पर इसका अर्थ-

साम्य रखनेवाला गम्या शब्द है। गम्या शब्द भी स्त्री का वह पर्यायवाची शब्द है, जिसके अर्थ में 'गमनशीलता' का भाव है। ऋग्वेद में स्त्री के अर्थ में ग्ना शब्द बहुधा प्रयुक्त है,—

"आ ग्ना अग्न इहावसे होत्राम्।"[44]

\+ \+

"अभियज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः।"[45]

\+ \+

"तव ग्नावो मित्रमहः सजात्यम्।"[46]

\+ \+

"नराशंसो ग्नास्पतिर्नो आव्याः।"[47]

समासतः 'ग्ना' शब्द में स्त्री-वाचकता के साथ 'गमन' का भी भाव है। इसी शब्द के साम्य पर निर्मित 'गम्या' के सम्बन्ध में महाभारत में वर्णन है,—

"अभिकामां स्त्रियं यश्च गम्यां रहसि याचितः[48]

इस वर्णन में 'गम्या' शब्द से स्त्री का संभोगार्हा-रूप स्पष्ट होता है।

जर्मन भाषा का स्त्रीपर्याय गुने (Gune) शब्द 'ग्ना' या एक ही समान मूल से निष्पन्न शब्द है। ग्रीक भाषा में 'गॉमस्' शब्द का अर्थ विवाह है, जिससे गम्या स्त्री से ही विवाह की प्रथा का पता चलता है। अँगरेजी के 'ग्यानेकोलोजी' शब्द में भी "ग्ना" है।

(१४) **वनिता**—'वनिता' शब्द को अमरसिंह ने नारी के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों के मध्य स्थान दिया है—"वामा वनिता महिला तथा।" वनिता शब्द की व्युत्पत्ति वन् धातु से है – वन् + इतच् + टाप्। वन् धातु अनेकार्थी है—वन् सम्भक्तिशब्दयोः (कविकल्पद्रुम)—वनति – सम्भक्तिः। वन् सेवने—वनति (दुर्गादास)। वन् व्यापृतौ (कविकल्पद्रुम) वनयति वानयति (व्याप्तति-र्व्यापारः) वन् – व्यापारे। वन्—उपकृतिश्रद्धाघातशब्दोपतापेषु (कविकल्पद्रुम)—वानयति—वनति। वन्—याचने (याचे—कविकल्पद्रुम)।

नारी के पर्याय में प्रयुक्त वनिता की धातु 'वन्' को याचना के ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। वाचस्पत्यम् में भी यही प्रामाण्य है—"वनिता-वन-याचने कर्मणि वा इत। योषिति, अनुरक्तायां स्त्रियाञ्च—मेदि।"[49]

शब्दकल्पद्रुम में वनिता का अर्थ 'जातरागस्त्री' और मेदिनी में 'स्त्रीसामान्यम्' किया गया है। कालिदास ने वनिता का प्रयोग राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा के लिए किया है। राजा दिलीप वन से संध्याकाल में नंदिनी गाय के

पीछे-पीछे लौटे तो वनिता (सुदक्षिणा) अपलक नेत्रों से उन्हें देखती रह गईं, जैसे उनकी आँखें राजा के रूप के लिए पिपासित हों—

"वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात्
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ।"[50]

दिलीप के वन से लौटने के कारण तथा स्वयं वनवासिनी होने के कारण सुदक्षिणा के लिए वनिता शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके लिए संस्कृत में 'वन्या' शब्द अलग से भी है।

वनिता शब्द में 'याचना' अर्थ को स्वीकार करने से इसका अर्थ होगा, नारी का वह रूप जिसमें साहचर्य-सहवास की याचना की जाय। 'वन्-सेवने' इस अर्थ से भी प्रकारान्तर से उपर्युक्त भाव ही स्पष्ट होता है। 'वन् व्यापृतौ या व्यापारे' अर्थ से नारी का क्रय-विक्रयात्मक रूप स्पष्ट होता है, जिसकी अभिव्यक्ति वारवनिता, रूपाजीवा इत्यादि शब्दों से होती है। वनिता का प्रयोग स्थान-विशेष के साथ होता है, जैसे 'व्रज-वनिता' इत्यादि। हिन्दी में स्थान-संबद्धता की यह प्रवृत्ति आज भी सुरक्षित है। गाँवों में कुलवधू को मातृस्थान से संयुक्त कर ही बुलाते हैं, जैसे दिल्लीवाली, गयावाली इत्यादि। पुरुषवाची नामों के साथ तो कहीं-कहीं इस प्रवृत्ति ने उपाधि का रूप ले लिया है—गयावाल इत्यादि।

'वन् उपकारे' के साथ वनिता वह है, जिसका उपकार किया जाय। वनिता में उपकृत होने के मनस्तत्त्व विद्यमान होते हैं, जो 'अबला' शब्द से भी अभिव्यक्त है।

इस प्रकार वनिता शब्द अपने व्युत्पत्त्यर्थों के साथ रूढ्यर्थ से भी बँधता गया और स्थानिकता के समानांतर संयुक्त होकर स्त्रीमात्र रह गया। वनिता उन ललित स्त्री-पर्यायों में है, जिसका प्रयोग कामशास्त्र में प्रचुर है।

(१५) प्रतीपदर्शिनी—अमरकोषकार ने नारी के प्रमुख एवं सामान्य ग्यारह नामों के अन्तर्गत प्रतीपदर्शिनी शब्द को स्थान दिया है,—"प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा।"

प्रतीपदर्शिनी समस्तपद है, जो प्रतीप और दर्शिनी के संयुक्त होने पर बना है। हेमचन्द्र के अनुसार प्रतीप का अर्थ है प्रतिकूल। यह एक अर्थालंकार भी है। पुराण-शब्दरत्नावली के अनुसार प्रतीप चन्द्रवंशीय ऋक्षराजपुत्र और शान्तनुराजपिता है। दर्शिनी का सामान्य अर्थ देखनेवाली है। अतः प्रतीपदर्शिनी

का मुख्य अर्थ प्रतिकूल देखनेवाली हुआ। प्रतीपं प्रतिकूलं वामं वा पश्यतीति--प्रतीपदर्शिनी। (प्रतीप + दृश् + णिनि + ङीप्) इस प्रकार नारी के 'प्रतीपदर्शिनी' पर्याय का अर्थ प्रतिकूल देखनेवाली किया गया है। इस शब्द के निर्माण में कई अटकल लगाने होंगे। पुरुष पहले आखेट के लिए घर से बाहर निकलते थे। इसके प्रतिकूल नारी घर में ही रहकर आंतरिक व्यवस्था का उतरदायित्व लेती थी। नारी पुरुष के विपरीत या प्रतिकूल (opposite) यौनांगधारिणी है। पुरुष प्रेम करता है, नारी प्रेम प्राप्त करती है। इसकी अभिव्यक्ति प्रेमी और प्रेमिका शब्द से अधिक Lover और Beloved शब्द में है। Lover शब्द में कर्तृवाचकता है, जबकि Beloved शब्द में इसके प्रतिकूल कर्मवाचकता। पुरुष शरीरत: सशक्त है, नारी प्रतिकूलत: 'अबला'। पुरुष की प्रतिकूलता में नारी गर्भधारण करती है। पुरुष पिता है, नारी माता। पुरुष पति है, नारी पत्नी। ये सभी प्रतिकूलता-जन्य सम्बन्ध हैं, यद्यपि दोनों एक-दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं। यदि दोनों में प्रतिकूलताएँ न होतीं तो एक का दूसरे के प्रति आकर्षण भी न होता। अत: कई दृष्टियों से नारी वस्तुतः प्रतीपदर्शिनी है।

(१६) वधू—नारी-पर्याय में अमरसिंह ने 'वधू' को भी व्यवस्थित किया है। वधू अनेकार्थी शब्द है। इसका अर्थ--पत्नी, पुत्रपत्नी, कुलांगना, नवोढ़ा, सामान्य स्त्री इत्यादि है। वधू शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा इसका अर्थ वह विवाहिता नवोढ़ा है, जो पिता के घर से पति के घर लायी गयी है। उह्यते पितृगेहात् पतिगृहम्। (वह् + घुकच)। विवाह में भी "वह् वहने" धातु है। (वि + वह् + घञ्)। अर्थात् पाणिग्रहण-पूर्वक किसी कन्या (वधू) का विशिष्ट विधि—बद्धता-पूर्वक वहन (ले आना) किया जाय वह विवाह है। इस विवाह में 'वधू' को पितृगृह से पति अपने साथ वहन कर घर ले आता है। पितृगृह से पतिगृह में वहनशीलता के ही कारण नारी वधू है। इसलिए अन्य पर्यायों की अपेक्षा 'वधू' शब्द में पवित्रता की गरिमा और व्यक्तित्व की उदात्तता का अर्थ सन्निविष्ट है। (वधू में टी जोड़ने से वधूटी शब्द बना है, जिसका अर्थ है—अल्पवयस्का नारी)।

(१७) **सीमंतिनी**—अमरकोष सीमंतिनी को भी ग्यारह सामान्य स्त्रीनामों के अन्तर्गत मानता है।—नारी सीमन्तिनी वधू। सीमन्त शब्द का अर्थ है मांग, केशान्तर्गतवर्त्मा कर। हेमचन्द्र में इसका अर्थ—केशेषुवर्त्म। (सीम्नोऽन्त:), सीमन्तिनी का अर्थ है, सीमन्तवाली। इस शब्द की व्याख्या के अनुषंग में सौंदर्य एवं सोभाग्य दोनों पर विचार अपेक्षित है। नारी के लिए केशराशि

और कुंतल-कलाप का महत्त्व है। केशराशि और उसके शृंगार के शताधिक प्रकार हैं। साहित्य एवं कामशास्त्र में इसका बहुत वर्णन है। अतः सीमंतिनी का अर्थ हुआ केशराशि की सुन्दरतावाली। जटाधर के अनुसार 'सीमंतोन्नयन' एक संस्कार-विशेष है। अतः स्त्रियों के लिए सौंदर्य की दृष्टि से इस संस्कार का विशेष महत्त्व है।

सीमंत में सीमंतक (सिंदूर) भरा जाता है। विवाहित स्त्रियों के लिए सीमंत में सिंदूर भरना सौभाग्य का प्रतोक है। नारी के सौंदर्य की सार्थता प्रिय (प्रियतम) को आँखों को चारु लगता ही है। यही उसका सौभाग्य है। कालिदास ने 'प्रियेषु सौभाग्यकला' कहकर इसी सौभाग्य-बोध की सूचना दी है। किंतु विवाहित स्त्रियों के लिए ही सिन्दूर लगाने की प्रथा का आरम्भ कब हुआ, इसकी निश्चित सूचना नहीं मिलतो और फिर सभी विवाहित स्त्रियाँ विवाहिता होने के प्रतीक में सिन्दूर नहीं लगातीं। इसलिए इसका सौन्दर्य के आसंग में ही अर्थ उपयुक्त है।

(१८) शर्वरी—शर्वरी का सामान्य तथा प्रसिद्ध अर्थ है रात्रि। अमरकोष में शर्वरी रात्रि के ही अर्थ में प्रयुक्त शब्द है,—

"....शर्वरी।

निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा।"[51]

'विश्व' के अनुसार शर्वरी 'हरिद्रा' और संक्षिप्तसारोणादिवृत्ति के अनुसार 'संध्या' है। ऋग्वेद में भी शर्वरी रात्रि के अर्थ में प्रयुक्त है—

"अतिस्कन्दन्ति शर्व्वरीः।"[52]

किन्तु इस परम्परा से भिन्न मेदिनी का अर्थ है 'योषित्' अर्थात् नारी। जटाधर के भी अनुकूल शर्वरी नारी है।

शर्वरी शब्द में 'शृ' धातु है—शृ + कृगृशृनृचतिभ्यः ✥ वरच् + ङीष् = शर्वरी। 'शृ' धातु का प्रयोग हिंसन अर्थ में होता है—शृ—हिंसेन। शृणाति चेष्टामिति शर्वरी। नारी के संबंध में यह कई बार कहा गया है कि नारी के चरित्र को समझना कठिन है। वह रात्रि की तरह अन्धकारमयी या रहस्यमयी है। सौन्दर्य के आधार पर नारी को रात्रि में प्रतीकित कर बिम्ब-विधान किया गया है। चेष्टादि के अर्थ में शर्वरी नारी है।

(१९) पुरंध्री—नारी के पर्याय में प्रयुक्त यह शब्द विशिष्टार्थ में सीमित कर दिया गया है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार पुरंध्री वह है, जो आत्मीयजनों के

साथ पुर को धारण करे—स्वजनसहितं पुरं धारयतीति ।[53] (पुरम् + धृञ् + खच् + ङीष्) भरत की व्याख्या के अनुसार पुरंध्री 'पतिपुत्रदुहित्रादिमती' है । अमरकोषकार के अनुसार पुरंध्री कुटुम्बिनी है—

"कुटुम्बिनी पुरंध्री ।'[54]

रघुवंश में इसी अर्थ में पुरंध्री का प्रयोग है—

"तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्
कन्याकुमारौ कनकासनस्थौ आर्द्राक्षतारोपणमत्वभूताम् "[55]

राजनिघंट में पुरंध्री का अर्थ है—"स्त्रीमात्रम् ।

मोनियर विलियम के अनुसार पुरंध्री विवाहिता तथा सुंदरी स्त्री है,— 'Beautiful wife.'

पुर का अर्थ गेहस्थजन भी है,—

"पुरं गेहस्थजनं धारयति पालयति ।

पुरन्ध्री के ही पर्याय में 'पुरन्ध्रि' शब्द भी प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ भी वही है ।

पुरंध्री की व्याख्या में--'बहु इष्टकाजातं दधति पुरुधा बहुधा धीयते स्थाप्यते' भी कहा जाता है ।

(२०) विनता—राजनिघंट के अनुसार नारी के पर्यायवाची शब्दों में विनता भी है । 'विनता' शब्द में नम् धातु है--वि + नम् + क्त + टाप् = विनता । विनता नामधारिणी एक स्त्री-विशेष भी है, जो दक्षप्रजापति की कन्या और गरुड़ की माता है । इसीलिए विनतासूनु शब्द का प्रयोग अरुण के अर्थ में होता है । मेदिनी और सुश्रुत के अनुसार विनता एक पिड़काभेद है ।

नारी अपनी विनयशीलता और मार्दव के कारण पुरुष की विशेष प्रिया है । इसी गुण के कारण नारी को विनता आख्या मिली ।

इसी शब्द के अर्थानुसंधान में नारी की स्नेहपूर्ण समर्पणशीलता की आनुषंगिता भी देखी जा सकती है ।

विदेशी भाषाओं में नारी के प्रतिशब्द इस प्रकार हैं,—Woman (English), Femme (French), Fran (German), Donna (Italian), Mujer (Spanish), Mulher (Portuguese), Femeir (Rumanian), Vrouw (Dutch), Kobieta (Polish), Kvinde (Danish), Kvinna (Swedish), Kvinne (Norwegian),

Zena (Czech) Zena (Serbo-Croat), Kadin (Turkish), Nainen (Finnish), Asszony (Hungarian), Wanita (Indonesian), Zhenshchina (Russian), Ischah (Hebrew), Fujin (Japanese), Virino (Esperanto), Yeneka (Greek), Froi (Yiddish). इनमें इंडोनेशियन का स्त्री-पर्याय शब्द वनिता (Wanita), पौलिश में कविता (Kobieta), फिनिश में नयनन (Nainen), और हिब्रू में इच्छा (Ischah), शब्द संस्कृत-ध्वनि-साम्य रखते हैं।

---

१. अमरकोष, २-६-२
२. निरुक्त ५।१।३
३. सायण तै० आ० ४।२।१)।
४—मनुस्मृति
५. हितोपदेश
६. रामचरितमानस
७. उपरिवत्
८. उपरिवत्
९. भावप्रकाश, पूर्वखंड, प्रथम भाग
१०. ब्रह्मवैवर्त्त, गणपतिखंड ६।५६-५८
११. ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीकृष्णजन्मखंड अ. २२
१२. मानव ९ अ०
१३. बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ६, ब्राह्मण ४, श्लो. १-२
१४. विष्णुपुराण
१५. याज्ञवल्क्य १।७२
१६. मनुस्मृति ९।२६
१७. स्कन्दपुराण
१८. ऋग्वेद, ८।३३।१७
१९. नि० ३-१५-१।
२०. देवीभागवत, ३-२५-९
२१. ऋग्वेद १-९८-११
२२. शतपथ-ब्राह्मण ३-६-१-४
२३. बृहदारण्यकोपनिषद् ६।२।१३-१४

24. Selected Letters, D. H. Lawrenee : P. 8
२५. मेघदूत १-३९
२६. वह्निपुराण
२७. मुण्डकोपनिषद् २-१-५
२८. रघुवंशम् : कालिदास : ७।५७
२९. ऋग्वेद : ६।५३।२
३०. शब्दकल्पद्रुम : चतुर्थो भागः पृ० ३३९।
३१. अमरकोष : अमरसिंह : २।६।२।
३२. शब्दकल्पद्रुम : भाग ४, पृ० ३३९।
३३. गीतगोविन्द : जयदेव १. ४६.।
३४. देवीपुराण अध्याय—४५।
३५. कालिकापुराण : अध्याय ७७.
३६. निरुक्त : यास्क : ३।२१।२
३७. ऋग्वेद : १।६२।६०
३८. उपरिवत्।
३९. निघंटु १।११
४०. शब्दकल्पद्रुम :—भाग ३, पृष्ठ ७८२
४१. महाभारत : व्यास : ६।६।२३
४२. कुमारसंभवम् : कालिदास—१।१८
४३. निरुक्त : यास्क : ३२१।२
४४. ऋग्वेद : १।१२।१०
४५. ऋग्वेद : १।१५।३
४६. ऋग्वेद : २।१।५
४७. ऋग्वेद : २।३८।१०
४८. महाभारत : व्यास : १।८३।३५
४९. वाचस्पत्यम् : भाग ६, पृष्ठ ४८४६
५०. रघुवंशम् : कालिदास : २।१६
५१. अमरकोष :—अमरसिंह—१।४:३
५२. ऋग्वेद—५।५२।३
५३. शब्दकल्पद्रुम : भाग ३—पृ० १७४
५४ अमरकोष : २।६।६
५५ रघुवंश : कालिदास--७।२८

गवाक्ष

मनुष्य आँखों से देखता है । दृश्य-जगत् का समग्र सौंदर्य इन्हीं आँखों से आस्वाद्य होता है । इन आँखों का साहित्य में बहुत वर्णन है । आँखों की अपनी मूक भाषा होती है । आँख का एक नाम नयन (नी + ल्युट्) है, अर्थात् जो ले चले । इसी प्रकार आँख (अक्षि) के पर्याय लोचन, नयन, नेत्र, ईक्षण, चक्षु, अक्षि, दृक् तथा दृष्टि सभी शब्दों की अपनी विशेषता है ।

पशु (पश्यति यः सः) और मनुष्य (मनु + यक्) में प्रधान अन्तर है, चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु का । पशु केवल चर्मचक्षु से ही देखता है, जबकि मनुष्य चर्मचक्षु के साथ ज्ञानचक्षु का भी उपयोग करता है । 'पश्येम शरदः शतम्' के साथ 'जीवेम शरदः शतम्' प्रार्थना में मनुष्य की इसी दृष्टिद्वय-पूर्णता की कामना है ।

घर की भी आँखें होती हैं—खिड़की । बिना खिड़कियों का मकान बिना आँखों के आदमी की तरह है । अतः मकानों में खिड़कियाँ न केवल उपयोगिता हैं, वरन् सौंदर्य भी ।

खिड़की के हिंदी में दो नाम हैं, खिड़की तथा झरोखा, विभाषा में दो नाम हैं—दलीच्ची तथा जंगला, संस्कृत में दो नाम हैं—वातायन तथा गवाक्ष, अँगरेजी में दो नाम हैं, Window तथा Ventilator इसी प्रकार पंजाबी में खिड़की को बारी, फारसी में दरीचा और तावदान, कश्मीरी में दार, उर्दू में खिड़की, दरीचा और रोशनदान, सिंधी में दरी, मराठी में खिड़की, गुजराती में बारी, बंगला में जानाला तथा जान्ला, असमी में खिरिकि, उड़िया में झरका, तेलुगु में किटिकी, तमिल में सन्नल्, जन्नल् तथा सालरम्, मलयालम में जनल्, कन्नड़ में किटिकि कहते हैं । इन सभी शब्दों में 'खिड़की' और 'दरीच' शब्द अपने रूपांतरों के साथ अनेकत्र सुरक्षित हैं ।

कुछ विदेशी भाषाओं में 'गवाक्ष' के प्रतिशब्द इस प्रकार हैं —Window (English), Fenetre (French), Fenster (German), Finestra

(Italian), Ventala (Spanish), Janela (Portuguese), Venster (Dutch), Fereastra (Rumanian), Okno (Polish), Okno (Czech), Vendu (Norwegian), Vindue (Danish), Fonster (Swedish), Okno (Russian), Parathiron (Greek), Mado (Japanese), Ablak (Hungarian), Pencere (Turkish).

वातायन और गवाक्ष के अतिरिक्त संस्कृत में खटविकका और पार्श्वद्वार ये दो शब्द और मिलते हैं। खिड़की शब्द खटत्रिकका का ही अपभ्रंश-रूप है। यही खटक्किका अपने विभिन्न तद्भव-रूपों में खिड़की, खिडकी, खिरिकि, किटिकि इत्यादि शब्द बन गया। दूसरा शब्द पार्श्वद्वार है। अर्थात्, द्वार के समीप का अथवा उपद्वार। संस्कृत के 'द्वार' फारसी के 'दर' और अँगरेजो Door [डोर '' दोर''' द्वार (दर)] शब्दों में पूर्णतः अर्थसाम्य है।

फारसी का दरीचा शब्द दर शब्द से निष्पन्न है - दर + चह् (चे हे ये) = दरीचः = दरीचा। दरीचा से दरीची शब्द भी लघुत्व अर्थ में बन जाता है। अतः फारसी का 'दरीचा' और 'दरीची' शब्द उर्दू में सुरक्षित है। हिंदी को बोलियों में दरीची शब्द 'दलीची' या 'दलीच्ची' के रूप में व्यवहृत होता है। प्रतिमित हिंदी में इसका मूल अथवा अपभ्रंश रूप नहीं चलता। 'दरीची' का 'दलीची' बन जाना आसान एवं भाषा-विकास-नियम-सम्मत है। 'र' का 'ल' रूप प्राकृत-व्याकरण-सम्मत है···रलयोरभेदः।

गवाक्ष शब्द गो + अक्ष से बना है। यहाँ 'गो' शब्द के 'गाय तथा 'किरण दोनों अर्थ हैं, इसी प्रकार अक्ष (अक्षि) के आँख और व्याप्ति दोनों अर्थ हैं। इस प्रकार गवाक्ष का अर्थ—गाय को आँख जैसी··गवामक्षविव तथा किरणों के आगमन का मार्ग···गवाः रश्मयः अक्ष्णुवन्ति अनेन इति····दोनों प्रकार से सिद्ध होता है। कोशांतर-उद्धरण के आधार पर संस्कृत में गवाक्ष, वातायन, खटक्किका एवं पार्श्वद्वार के अतिरिक्त, जाल, जालक तथा वधूहगयन शब्द भी अप्रचलित रूप में प्राप्त हैं—होते हैं।

संस्कृत के जाल और जालक से जानाला, जान्ला, जन्नल्, जनल्, तथा जंगला इत्यादि शब्द निष्पन्न हुए हैं।

वातायन (वात + अयन) शब्द में वात (वायु) के आगमन (वातस्यायनं गतिर्येन) की महत्ता है। Window में भी Wind (हवा) की महत्ता है।

उर्दू में रोशनदान, संस्कृत में गवाक्ष और फारसी में तावदान (तापदान) शब्द खिड़की से रोशनी आने की सार्थकता को निर्दिष्ट करते हैं।

समासतः खिड़की की सार्थकता हवा और रोशनी के लिए है, जो विभिन्न शब्दों की व्युत्पत्ति से सिद्ध है।

अँगरेजी के Ventilator को वातायन का और Window को गवाक्ष का समानार्थी प्रतिशब्द स्वीकार किया जा सकता है।

Window शब्द की व्युत्पत्ति अनेकविध है। Old norse में Vindanga शब्द था, जो Vindr (Wind) + anga(Eye) शब्दों से बना है, अर्थात् हवा की आँख अथवा आँख जैसा वह छेद, जिससे हवा आये-जाये। पुरानी अँगरेजी में Window का उच्चारण Windore तथा Windor भी मिलता है। यह शब्द अपने मूल-रूप Wind-door (वायुद्वार) की स्मृति दिलाती है। गोथिक में यह Eagdnra (Eye-door) है।

अँगरेजी का यह शब्द Middle English के Wind-oge से बना प्रतीत होता है। इसका रूप इस प्रकार दिखाया जा सकता है—Windanga-(windr (wind) anga (eye) windo-ge (Middle English)-window (Modern English) अत; Window शब्द में air (हवा) तथा Vision (दृष्टि) की प्रमुखता है। गवाक्ष में दृष्टि और किरण है। वातायन में हवा है।

शरीर में आँखों की तरह घरों में खिड़की का उपयोगिता और सौंदर्य दोनों दृष्टियों से महत्त्व है।

स्वास्थ्य

'स्वास्थ्य' शब्द का आधुनिक अर्थ शारीरिक 'आरोग्य' है। इसका अँगरेजी प्रतिशब्द 'Health' है। परन्तु 'स्वास्थ्य' शब्द इन अर्थों से अधिक अर्थव्याप्ति रखता है। अर्थों का यह अन्वेषण शब्द की व्युत्पत्ति से संभव है। 'स्वास्थ्य' शब्द 'स्वस्थ' शब्द में 'ष्यञ् ' प्रत्यय लगने से बना है। अर्थात् स्वस्थ होने का भाव ही 'स्वास्थ्य' है। फिर स्वस्थ शब्द 'स्व' और 'स्थ' के योग से बना है— स्व + स्था + क: = स्वस्थ:। 'स्वस्थ' का अर्थ 'आत्मस्थ' होगा। संस्कृत-कोश में इसकी व्याख्या है 'स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थ:'। इसका एक पर्याय 'सुस्थ' भी दिया गया है।

इस प्रकार 'स्वस्थ' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है, अपने में स्थिर रहना। यह 'सुस्थता' है अर्थात् शोभन-कर स्थिति है। मनुष्य के व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं, एक तो बाहरी दूसरा आंतरिक। आंतरिक व्यक्तित्व से सम्पन्न व्यक्ति ही सुखी, सानंद और नीरोग माना गया है। इसीलिए 'स्वास्थ्य' शब्द का अर्थ सुख, संतोष,आरोग्य इत्यादि है। 'स्वास्थ्य' का 'संतोष' अर्थ 'अभिज्ञानशाकुंतलम् में भी मिलता है। शकुंतला को पति के घर भेजकर कण्व ऋषि को संतोष होता है,—

"शकुंतलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्"[1]

'साहित्यदर्पण' में भी 'स्वास्थ्य' का 'संतोषार्थ' में प्रयोग है—"चेत: स्वास्थ्यमुपैहि"।[2]

कोशग्रंथ 'हेमचंद' में स्वास्थ्य का अर्थ 'संतोष' निर्दिष्ट भी है। 'शब्द-रत्नावली' में इसका अर्थ है 'आरोग्य'।

अत: 'स्वास्थ्य' शब्द का अर्थ शारीरिक आरोग्य और मानसिक संतोष दोनों ही है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा (या अनात्मवादी के लिए मस्तिष्क) का निवास होता है। इसीलिए संस्कृत में 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' सूक्ति

है। आत्मा को रथी और शरीर को रथ माना गया है—"आत्मनं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।"

आत्मस्थता, आत्मस्थिति, स्वस्थता तथा स्वास्थ्य शब्द मूल अर्थ में परस्पर पर्याय माने जा सकते हैं। स्वास्थ्य का केवल 'शारीरिक आरोग्य' अर्थ अर्वाचीन है। संतोष, आत्मस्थता इत्यादि के लिए 'स्वास्थ्य' शब्द को विशेषण की आवश्यकता होती है; जैसे—आत्मिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य इत्यादि। शरीरगत स्वास्थ्य के लिए 'शारीरिक स्वास्थ्य' के अलावा केवल 'स्वास्थ्य' से भी अर्थसिद्धि हो जाती है।

अँगरेजी में स्वास्थ्य का प्रतिशब्द Health है। Health शब्द की अर्थ-व्याप्ति स्वास्थ्य के समान नहीं है। 'स्वास्थ्य' में आत्म-चिंतन-गत आत्मस्थता (स्वस्थता) का भी भाव है, जो Health शब्द में नहीं है। अँगरेजी की सूक्तियों में भी Health को अनेकविध स्वीकार किया गया है, जैसे,—

"Health and cheerfulness mutually beget each other"[3]

अर्थात्, स्वास्थ्य और प्रसन्नता परस्पर सापेक्ष हैं।

इसी प्रकार स्वास्थ्य और प्रसन्नता की परस्पर-सापेक्षता को व्यक्त करने-वाली अनेक अँगरेजी सूक्तियाँ हैं,—

"Happiness lies, first of all, in health."[4]

"A healthy body is the guest-chamber of the soul, a sick, its prison."[5]

"Health and wealth create beauty."[6]

"He who hath good health is young."[7]

"All health is better than wealth."[8]

"Health is wealth."[9]

इस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य की महत्ता को पाश्चात्य संस्कृति में भी सर्वत्र स्वीकार किया गया है।

भारतवर्ष में तो शारीरिक स्वास्थ्य को महत्त्वपूर्ण माना गया ही है। शरीर का नाम 'अन्नमय कोष' है जो भूमा के पूर्व महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कुछ भारतीय धर्मशाखाओं ने 'शारीरिक स्वास्थ्य' के महत्त्व को अस्वीकार किया है। उनके लिए 'आध्यात्मिक स्वास्थ्य' ही महत्त्वपूर्ण था। किन्तु 'स्वास्थ्य के दोनों अर्थों को सिद्धि का प्रयत्न ही आदर्श है। शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक स्वास्थ्य की प्राप्ति करना है।

विभिन्न भाषाओं में 'स्वास्थ्य' के प्रतिशब्द इस प्रकार हैं—अँगरेजी में Health, उर्दू, फारसी, अरबी, पंजाबी और कश्मीरी में सेहत; सिंधी में सिहत और तंदुरुस्ती; मराठी में आरोग्य; गुजराती में तबियत; बँगला, असमी, उड़िया, संस्कृत और हिन्दी में स्वास्थ्य; तेलुगु में आरोग्यमु; मलयालम् में आरोग्यम्; कन्नड़ में आरोग्य; तमिल में उडलनलम् । फ्रेंच में Health के लिए 'Sante' (शांति) शब्द है । संस्कृत के स्वास्थ्य और फ्रेंच के Sante (शांति) शब्द में अर्थगत अद्भुत साम्य है । हिन्दी में स्वास्थ्य, स्वस्थता, आरोग्य, सेहत, तंदुरुस्ती ये सभी शब्द चलते हैं ।

कुछ अन्य विदेशी भाषाओं में स्वास्थ्य के प्रतिशब्द हैं,—Salud (Spanish), Saude (Portuguese), Salute (Italian), Sanatate (Rumanian), Gesundheit (German), Halsa (Swedish), Gezondheid (Dutch), Helse (Norwegian), Sundhed (Danish), Zdravi (Gzech), Zdrowie (Polish), Egeszseg (Hungarian), Terveys (Finnish), Sihaat (Turkish), Zdarovye (Russian), Iyia (Greek), Kenkoo (Japanese),

1. अभिज्ञानशाकुंतलम् : अङ्क ४
२. साहित्यदर्पण ३।२४६
3. Addison, the Spectator No 387.
4. G. W. Curtis, Lotus-eating Trenton.
5. Francis Bacon, Augmetis Scientiarum; Valetuto.
6. H. G. Bohn, Hand Book of Proverb, 405.
7. H. G. Bohn, Hand Book of Proverb, 400.
8. Scott, Familiar Letter, Vol I P. 255
9. Proverb.

भू

हिंदी और संस्कृत में एक शब्द के अनेक प्रतिशब्द या पर्याय (Synomym) उपलब्ध हैं। यद्यपि एक शब्द के अनेक प्रतिशब्द होते हैं, किंतु सबों में अर्थ की सूक्ष्म भिन्नता होती है। इनके वैज्ञानिक-भाषावैज्ञानिक अध्ययन से शब्द का समस्त व्यक्तित्व व्यक्त हो जाता है।

प्रस्तुत निबंध में 'पृथ्वी' के पर्यायवाची शब्दों का अध्ययन-विवेचन उपस्थित किया गया है। अँगरेजी में 'पृथ्वी' के पर्याय में Earth तथा Globe ये दो ही शब्द हैं, किंतु संस्कृत-हिंदी में ८१ पर्यायवाची शब्द हैं। 'पृथ्वी' के ये पर्यायवाची शब्द, 'वाचस्पत्यम्', 'शब्दकल्पद्रुमः', 'अमरकोषः', 'भरतः', 'शब्दरत्नावली', 'राजनिर्घण्टः', 'जटाधरः', 'शब्दार्णवः' 'मेदिनी' इत्यादि कोशग्रंथों से एकत्र किए गए हैं। नीचे 'भू' शब्द का अर्थविश्लेषण तथा उक्त शब्द के संयोग से बननेवाले अनेक शब्दों को उपस्थित किया जा रहा है,—

१. भू (भूः)—[भवत्यस्मिन्निति—भू + क्विप् = भूः]

'भू' अर्थात् जिस पर भवति (होने) का भाव हो, या जिस पर सत्ता अथवा अस्तित्व या भूति (to be) का भाव हो वह 'भू' है। कालिदास ने इसका प्रयोग इस प्रकार किया है,—

"मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः" (मेघदूत १८)

भू शब्द अनेक शब्दों से समस्त होकर अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति करता है, यथा,—

१. भू-उत्तम—सोना
२. भू-कंद—महाश्रावणिका
३. भू-कंप—भूचाल
४. भू-सूचक-यंत्र—एक यंत्र जिसके द्वारा भूकंप होने और उसकी दूरी का ज्ञान होता है।
५. भू-कदंब—एक प्रकार का कदंब

६. भू-कपित्थ—एक प्रकार का कैथ
७. भू-कर्ण—पृथ्वी का व्यास
८. भू कर्बुदारक—वृक्ष-विशेष, लिसोड़ा
९. भू-कश्यप—कृष्ण के पिता वसुदेव तथा उनका विशेषण ।
१०. भू-काक—एक प्रकार का बाज, क्रौंच
११. भू-कुंभी—भूपाटली
१२. भू-कुष्मांडी (भू कूष्मांडी)—बिदारी
१३. भू-केश—वटवृक्ष, सिवार
१४. भू-केशा—राक्षसी, पिशाचिनी
१५. भू-केशी—सोम-राजिका-वृक्ष
१६. भू-क्षित्—सूअर
१७. भू-खंड—भू-भाग
१८. भू-खर्जूरी—छोटा खजूर
१९. भू-गंधपति—शिव
२०. भू-गंधा—मुरा नामक गंध द्रव्य
२१. भू-गर—एक विष
२२. भू-गर्भ—पृथ्वी का भीतरी भाग, विष्णु, भवभूति नामक कवि
२३. भू-गृह—तहखाना
२४. भू-गेह—तहखाना
२५. भू-गोल—भूमंडल और भूगोल-शास्त्र
२६. भू-गोलक—भूमंडल
२७. भू-घन—काया, शरीर
२८. भू-चक्र—विपुवत् रेखा, भूमध्यरेखा, क्रांतिवृत्त
२९. भू-चर—स्थलचर, शिव
३०. भू-चरी—योग की एक मुद्रा
३१. भू-चर्या—धरती की छाया और अंधकार
३२. भू-छाय—धरती की छाया और अंधकार
३३. भू-छाया—धरती की छाया और अंधकार
३४. भू-चाल—भूकंप
३५. भू-जंतु—हाथी
३६. भू-जंबु—गेहूँ
३७. भू-जाल—वृक्ष
३८. भू-तत्त्व—पृथ्वी की रचना का विज्ञान

३९. भू-तल—पृथ्वी की सतह
४०. भू-ताली— भू-पाटली, मुषली
४१. भू-तृण - घास
४२. भू-दार—सूअर
४३. भू-देव—ब्राह्मण
४४. भू-धन—राजा
४५. भू-धर—पहाड़, शेषनाग, कृष्ण, शिव, सातकी संख्या
४६. भू-धात्री—आँवला
४७. भू-ध्र—पहाड़
४८. भू-नाग—भूमिनाग, केंचुआ
४९. भू-निंब - चिरायता
५०. भू-नेता – राजा
५१. भू-प—राजा
५२. भू-पटल—पृथ्वी को ऊपरी सतह
५३. भू-पति—राजा, शिव, इंद्र
५४. भू-पतित—पृथ्वी पर पड़ा
५५. भू-पद—वृक्ष
५६. भू-पदी—एक विशिष्ट प्रकार की चमेली
५७. भू-परिधि – पृथ्वी का घेरा
५८. भू-पलाश—एक वृक्ष
५९. भू-पवित्र—गोबर
६०. भू-पाटली—एक प्रकार का पौधा
६१. भू-पाल—राजा
६२. भू-पालन—प्रभुता, आधिपत्य
६३. भू-पाली—एक रागिनी
६४. भू-पुत्र (भूसुत)—मंगल ग्रह
६५. भू-पुत्री (भूसुता)—पृथ्वी की बेटी, सीता
६६. भू-प्रकंप—भूकंप
६७. भू-प्रदान—भूदान
६८. भू-फल—हरी मूँग
६९. भू-ब (भूबम्)—भूगोल
७०. भू-बिंब—भूलोक
७१. भू-भर्त्ता—राजा

७२. भू-भाग—भूखंड
७३. भू-भार—धरती पर होनेवाला पाप
७४. भू-भुज् (भूभुक्)—राजा
७५. भू-भृत—पहाड़
७६. भू-मंडल—पृथ्वी
७७. भू-मध्यसागर—यूरोप और एशिया के बीच का सागर
७८. भू-महेंद्र—राजा
७९. भू-रुह—वृक्ष, अर्जुन वृक्ष
८०. भू-रुहा—दूब
८१. भू-लग्ना—शंखपुष्पी
८२. भू-लता—केंचुआ
८३. भू लेखन-यंत्र - भूकंप-सूचक-यंत्र
८४. भू-लोक—भूमंडल, मर्त्यलोक
८५. भू वलय—पृथ्वी की परिधि, भूमंडल
८६. भू-वल्लभ—राजा
८७. भू-शक्र—राजा
८८. भू-शय—विष्णु
८९. भू-शय्या—जमीन पर सोना
९०. भू-शर्करा—एक प्रकार का कंद
९१. भू-शायी—जमीन पर सोनेवाला, मृत
९२. भू-शुद्धि - लीपने आदि से भूमि की शुद्धि
९३. भू-शेलु—भूकर्बुदारक
९४. भू-श्रवस्—वल्मीक, बमी
९५. भू-श्रवा—वल्मीक, बमी
९६. भू-संपत्ति—खेत, जमींदारी
९७. भू-संस्कार—यज्ञ के लिए पृथ्वी को लीपना, नापना आदि
९८. भू-सुत—मंगल ग्रह
९९ भू-सुता—सीता
१००. भू-सुर—ब्राह्मण, मनुष्य, मानवजाति, वैश्य
१०१. भू-स्पृक्—मनुष्य
१०२. भू-स्फोट—कुकुरमुत्ता
१०३. भू-स्वर्ग—धरती पर स्वर्ग के सदृश स्थान, सुमेरु पर्वत
१०४. भू-स्वामी—भूमिधर

'भू' के ८१ पर्याय उपलब्ध हैं,—

१. भू
२. भूमि
३. अचला
४. अनंता
५. रसा
६. विश्वंभरा
७. स्थिरा
८. धरा
९. धरित्री
१०. धरणी
११. क्षौणी
१२. ज्या
१३. काश्यपी
१४. क्षिति
१५. सर्वंसहा
१६. वसुमती
१७. वसुधा
१८. उर्वी
१९. वसुंधरा
२०. गोत्रा
२१. कु
२२. पृथ्वी
२३. क्ष्मा
२४. अवनि
२५. मेदिनी
२६. मही
२७. भूर
२८. भूमि
२९. धरणि
३०. क्षोणि
३१. क्षोणी
३२. क्षौणि
३३. क्षमा
३४. अवनी
३५. मंहि
३६. रत्नगर्भा
३७. सागरांबरा
३८. अब्धिमेखला
३९. भूतधात्री
४०. रत्नावती
४१. देहिनी
४२. पारा
४३. विपुला
४४. मध्यमलोकवर्त्मा
४५. धरणीधरा
४६. धारणी
४७. महाकांता
४८. जगद्वहा
४९. गंधवती
५०. खंडनी
५१. गिरिकर्णिका
५२. धारयित्री
५३. धात्री
५४. सागरमेखला
५५. सहा
५६. अचलकीला
५७. गौः
५८. अब्धिद्वीपा
५९. द्विरा
६०. इड़ा
६१. इड़िका
६२. इला
६३. इलिका
६४. उदधिवस्त्रा
६५. इरा
३६. आदिमा
६७. ईला
६८. वरा
६९. उर्वरा
७०. आद्या
७१. जगती
७२. पृथु
७३. भुवनमाता
७४. निश्चला
७५. बीजप्रसू
७६. श्यामा
७७. क्रोड़कांता
७८. खगवती
७९. अदिति
८०. पृथवी
८१. पृथिवी

इन पर्यायवाची शब्दों में प्रत्येक का अपना महत्त्व और विशिष्टार्थ है। पर्याय होते हुए भी इनमें भिन्न छायार्थ (different shade of meaning) हैं। उदाहरणतः रसा (रसयुक्त), विश्वंभरा (विश्व का अन्नादि उत्पादन से भरण करनेवाली), पृथ्वी (फैली हुई), रत्नगर्भा (जिसके अंदर रत्नादि हो), धात्री (धारण करनेवाली), गौ (गच्छति इति गौः—जो चले, one which rotates) उर्वरा (जिसमें उर्वरता हो), जगती (चलनेवाली) इत्यादि सभी पर्याय-शब्दों में पृथ्वी के विभिन्न गुणों का व्युत्पत्तिगत विश्लेषण है।

अनुवाद

'अनुवाद' संस्कृत शब्द है, किंतु 'भाषांतर' के अर्थ में किसी भी संस्कृत-कोश में यह शब्द उल्लिखित नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि लिखित भाषांतर का प्रचलन प्राचीन काल में नहीं था। इसीलिए भाषांतर शब्द नहीं मिलता।

'अनुवाद' शब्द का मूल अर्थ है 'पुनः कथन'। यह शब्द 'वद्' धातु से 'अनु' उपसर्ग तथा 'घञ्' प्रत्यय लगने से बना है। 'अनु' अर्थात् 'पुनः' और 'वाद' अर्थात् 'कथन'।

संस्कृत-साहित्य में 'अनुवाद' का उपलब्ध अर्थ है—पुनः कथन, सामान्य रूप से आवृत्ति, व्याख्या, उदाहरण या समर्थन की दृष्टि से आवृत्ति, व्याख्यात्मक आवृत्ति का उल्लेख, ब्राह्मण-ग्रंथों का भाग, जिसमें पूर्व-कथित निदेश या विधि की व्याख्या, विश्लेषण, चित्रण, टीका-टिप्पण वर्णित है और जो स्वयं कोई विधि या निदेश नहीं है, समर्थन, विवरण, अफवाह, कुत्सितार्थवाक्य इत्यादि।

पहली बार मोनियर विलियम्स ने अपने कोश में भाषांतर के पर्याय में अनुवाद का प्रयोग किया है। इसके पूर्व Translation या तर्जुमा के लिए अनुवाद शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता।

भारतीय दर्शन में अनुवाद एक पारिभाषिक शब्द है। ब्राह्मण वाक्यों के तीन प्रकार के भेद किए गए हैं,—

विधि, अर्थवाद और अनुवाद। इसके लिए न्यायसूत्र है— विध्यर्थवादानुवाद-वचन-विनियोगात् (न्यायसूत्र ४.२.६३) विधि और विहित का पुनः कथन 'अनुवाद' के रूप में स्वीकृत है। इस आशय को न्यायसूत्र में इस प्रकार स्पष्ट किया गया हैं—विधि विहितस्यानुवचनमनुवादः (न्यायसूत्र ४.२.६६)

वात्स्यायन-भाष्य में अनुवाद और पुनरुक्ति में अंतर किया गया है। इसके अनुसार 'पुनरुक्ति' जब प्रयोजनवती होती है, तभी वह 'अनुवाद' होता है अर्थात् प्रयोजनवान् पुनः कथन अनुवाद होता है।

शब्दरत्नावली में अनुवाद का अर्थ कुत्सितार्थवाक्य है।

शुद्धितत्त्वटीका में अनुवाद का अर्थ 'उक्तस्य पुनः कथनम्' किया है; जैसे,— विरोधे गुणवादः स्यात् अनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः।

श्रीभागवत में अनुवाद का अर्थ है वाचारम्भनमात्रम्, जैसे,—

'विनानुवादं न च तन्मनीषितम्
सम्यग्यतस्त्यक्तमु पादत् पुमान्।"

मीमांसा-दर्शन में वाक्य के विधि-सम्मत आशय का समर्थनपरक पुनः कथन अनुवाद है। यह तीन प्रकार का माना गया है—भूतार्थानुवाद, स्तुत्यर्थानुवाद और गुणानुवाद।

काशिका में 'अनुवाद' का अर्थ है --इतर प्रमाणों से अच्छी तरह ज्ञात हुई बात का शब्द द्वारा कथन-मात्र अनुवाद है—'प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन सङ्कीर्त्तन-मात्रम् अनुवादः।'

अनुवाद के 'पुनः कथन' अर्थ के आधार पर आधुनिक काल में इसका अभिप्राय भाषांतर माना जा सकता है, किंतु एक भाषा में लिखित विचार को दूसरी भाषा में तर्जुमा कर लेखन-क्रिया को 'अनुवाद' मानने में आपत्ति हो सकती है। वाद का अर्थ 'बोलना' या 'कथन' है, लिखना नहीं। अतः तर्जुमा के लिए 'अनुलेख' शब्द अधिक उपयुक्त हो पाता, जिसका प्रयोग-प्रचलन नहीं हो सका। 'अनुवाद' शब्द के अर्थ की व्याप्ति के आधार पर तर्जुमा के लिए उसे उपयुक्त मान लिया गया है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद शब्द ही प्रचलित है। ट्रांसलेशन या तर्जुमा के लिए भारतीय भाषाओं में जो प्रति-शब्द चलते हैं, वे हैं—हिंदी, पंजाबी, बँगला, असमी, उड़िया, तेलुगु, कन्नड़ और आधुनिक संस्कृत—इन नौ भाषाओं में अनुवाद शब्द प्रचलित है। उर्दू में तर्जुमा, कश्मीरी में तर्जम्, सिंधी में तर्जुमो, मलयालम् में तर्जम तथा विवर्तनम्, तमिल में पेयर्पु और मोलि, मराठी तथा गुजराती में भाषांतर शब्द प्रचलित हैं।

हिंदी में अनुवाद, भाषांतर तर्जुमा और उल्था ये चार शब्द प्रचलित हैं, जिनमें अनुवाद और भाषांतर संस्कृत से, तर्जुमा उर्दू के द्वारा अरबी से और उल्था देशी शब्द-समुदाय से गृहीत है।

अँगरेजी के शब्द Transliteration के लिए 'लिप्यंतर' शब्द प्रयुक्त हो रहा है, इसी आधार पर Translation के लिए 'भाषांतर' शब्द अधिक उप-

युक्त है । 'अनुवाद' शब्द की बहुव्यापकता तथा सार्थकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

अँगरेजी के Translation शब्द का प्राचीन अर्थ Transfer था । अँगरेजी का Translation शब्द लैटिन मूल से फ्रेंच होते हुए आया है, जिसका अर्थ था, एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाना ।

१५१७ ई० का एक अँगरेजी प्रयोग इसी अर्थ को व्यक्त करता है,—

Hys body was translate to Rome.

फिर बाद में विचारों के भाषांतर को भी Translation कहा जाने लगा ।

अनुवाद करनेवाले के लिए अनुवादक शब्द चलता है । किंतु वाद का विशेषण 'वादी' अधिक प्रचलित है; जैसे—छायावाद से छायावादी, अर्थवाद से अर्थवादी इत्यादि । इस संबंध में एक तर्क दिया जा सकता है कि छायावाद में वाद का अर्थ ism है जबकि अनुवाद में वाद का अर्थ speech है । वादक का एक अर्थ बजानेवाला प्रसिद्ध है; जैसे—वेणुवादक, तबलावादक इत्यादि । इस आधार पर हिंदी की अपनी प्रकृति 'वादी' की ही है, किंतु प्रचलित शब्द 'अनुवादक' को भी स्वीकार किया जा सकता है । उपसर्ग से संयुक्त होने पर वाद की प्रवृत्ति 'वादी' ही हो जाने की है; जैसे—संवाद—संवादी, प्रवाद—प्रवादी, प्रतिवाद—प्रतिवादी, इसी पद्धति पर अनुवाद - अनुवादी होना था, किंतु लोकप्रयोग इसे स्वीकार नहीं कर सका ।

इसी प्रकार अनुवाद से अनेक शब्द बनेंगे अनूदित और अनुवादित, अनुवादक और अनुवादी तथा अनुवाद्य । भाषांतर शब्द में इतनी उर्वरता अभी उत्पन्न नहीं हो पाई है । इससे भाषांतरित और भाषांतरकार ये ही दो शब्द बनते हैं ।

आधुनिक युग को व्यापकता, अंतरराष्ट्रीयता तथा भाषांतर का माना गया है । किसी स्थान तथा भाषा-विशेष की उपलब्धि पर आज समूचे संसार का अधिकार समझा जाता है । किंतु इस उपलब्धि का उपयोग अनुवाद के माध्यम से ही हो सकता है. इसलिए संसार की भाषाओं में परस्पर-अनुवाद की सुविधाएँ उपलब्ध की-कराई जानी चाहिए । संसार की भाषाओं की संख्या २,७९६ है । भारत की संविधान-स्वीकृत भाषाएँ १५ हैं । इन पन्द्रह भाषाओं में ही परस्परानुवाद की सुविधाएँ नहीं हैं, विदेशी भाषाओं की बात तो अलग है । अतः अनुवाद के लिए कोशादि साधनों पर कार्य अपेक्षित है ।

दिक्काल

समग्र सृष्टि तथा जीवन के लिए दो तत्त्व अन्योन्याश्रयत: तथा सापेक्षतया आधारभूत हैं, वे हैं,—दिक् तथा काल। अँगरेजो में इसे Time and Space कहते हैं। इसके पर्याय में अनेक शब्द व्यवहृत होते हैं, किंतु शब्दांतर के साथ अर्थांतर भी होता चलता है, जो यहाँ द्रष्टव्य है।

महर्षि आइंस्टीन के अनुसंधानों से दिक्काल का सापेक्षत्व-सिद्धांत महत्ता को प्राप्त हुआ है। आज के युग को दिक्काल-युग या सापेक्षत्व-युग कहा जाता है।

'दिक्काल' शब्द Time and Space का वास्तविक प्रतिशब्द है। दिक् और काल से समस्तपद 'दिक्काल' द्वन्द्व समास है। भर्तृहरि ने 'दिक्काल' का व्यवहार नीतिशतक के आदिश्लोक में ही किया है,—

"दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नम: शांताय तेजसे॥"

'अर्थात् ईश्वर 'दिक्काल' के मान से आकलित-तुलित होने से ऊपर हैं।' इसीलिए ईश्वर को दिक्कालातीत माना गया है। ईश्वर का एक नाम 'ब्रह्मा' है। 'ब्रह्मा' शब्द में 'बृंह्' धातु है, जिसका अर्थ बृंहणशील या वर्धमान है। जो बृंहणशील या विवर्धनशील है, इसे नापा कैसे जा सकता है?

'दिशावधि' शब्द दिक्काल का ही पर्याय है। दिशा और अवधि मिलकर दिशावधि शब्द बना है। भवभूति को काल की अखण्डता का बोध था। उन्होंने लिखा है,—

"उत्पत्स्यते ह्यपि कोऽपि समानधर्मा
कालो निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"

इसमें दो स्थापनाएँ हैं, एक तो 'विपुलाचपृथ्वी' अर्थात् अनन्त दिक्, और दूसरे 'कालो निरवधि:' अर्थात् काल अखंड है। आइंस्टीन ने आज यह सिद्ध

किया है कि काल का खंडन नहीं हो सकता। भवभूति ने भी लिखा कि काल अवधित नहीं किया जा सकता। अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि टी० एस० एलिएट ने भी 'फोर क्वार्ट्रेट्स' की पहली कविता का आरंभ काल की अखंडता और शाश्वतता के वर्णन से किया है,—

"Time Present and time past
Are both present in time future
Time future contanined in time past
If all time is eternally present
All time is unredeemable."

'अब्दांचल' शब्द भी दिक्काल का पर्याय है, किंतु इसकी अर्थव्याप्ति दिक्काल की भाँति व्यापक नहीं है। काल का खंड 'अब्द' (वर्ष) है, और स्थान का खंड 'अंचल' है। व्यापक अर्थ में 'अब्दांचल' दिक्काल ही है।

'कालाध्व' शब्द काल और अध्वा के जोड़ से बना है। 'अध्वा' का अर्थ दूरी या स्थान है। व्याकरण-शास्त्र के कारक-प्रकरण में एक सूत्र है 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया' अर्थात् 'काल' और 'अध्वा' के आत्यंतिक संयोग में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है। यह भी Time and Space का पर्याय-शब्द है।

दिगम्बर (दिक् + अम्बर) में दिक् Space के लिए और अंबर Time के लिए प्रयुक्त है। दिगम्बर का अर्थ एक जैन-शाखा भी है। जैनधर्म में श्वेतांबर और दिगंबर दो शाखाएँ हैं। दिगंबर जैन नंगे होते हैं। दिगंबर का अर्थ नग्नता इसलिए भी हो गया कि दिशाओं का वस्त्रावरण (अंबर) शून्य होता है।

'तिथि-स्थान' शब्द दिक्काल-सूचक ही है।

'भूगोलेतिहास' शब्द भूगोल और इतिहास का समस्तपद है। Geography and History का अर्थद्योतक शब्द 'भूगोलेतिहास' दिक्काल का भी अर्थ रखता है। 'भूगोल' स्थानवाची शब्द है, जबकि इतिहास कालवाची। इसीलिए 'भूगोलेतिहास' दिक्काल-पर्याय है।

वर्षावास शब्द मुख्यतः बौद्ध-साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। चार महीनों की वर्षा ऋतु होती है। इस अवसर पर बौद्ध भिक्खु किसी एक स्थान पर आवास बनाकर रहते थे। इसी भाव को द्योतित करनेवाला शब्द है 'वर्षावास'। इसे 'चातुर्मास्य' भी कहा जाता है। 'आश्वलायन' के अनुसार 'चातुर्मास्य' तीन हैं—

(१) वैश्वदेव, (२) वरुणप्रघास तथा (३) साकमेध। वर्षावास (वर्षा+आवास) का अर्थ हुआ वर्षा ऋतु में आवास। इसके अतिरिक्त 'वर्षावास' शब्द दिक्काल का भी अर्थ रखता है। वर्षा के नाम पर 'वर्ष' शब्द बना है, जो कालवाची है। 'आवास' स्थानवाची शब्द है। अतः कालवाची 'वर्षा' और स्थानवाची आवास के मिलने से दिक्कालवाची 'वर्षावास' शब्द स्वीकृत किया जा सकता है।

'भूख' शब्द बुभुक्षा का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ Hungr है। इसके अतिरिक्त, 'भूख' शब्द तत्सम भी है। 'भू' (पृथ्वी) और 'ख' (आकाश) के समास से बना तत्सम 'भूख' शब्द दिक्काल की अर्थवत्ता रखता है। इसी प्रकार 'अचलांबर' (अचला+अंबर), 'पृथ्वी-आकाश', 'अचलांतरिक्ष' इत्यादि शब्द भी विश्लेषित किए जा सकते हैं।

दिक्काल-सिद्धांत सृष्टि का मूल सिद्धांत है, जिसके सम्यक् विश्लेषण से व्यक्ति सर्वज्ञ हो सकता है।

समय बीतता नहीं। मनुष्य बीत जाता है। इसे एक आलंकारिक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। किसी स्थिर तालाब में हम प्रवेश करें तो कहते हैं, घुटने तक पानी आ गया। और आगे बढ़ते हैं तो कहते हैं, कमर तक पानी आ गया और कुछ और आगे बढ़ते हैं तो कहते हैं, कंठ तक पानी आ गया। वस्तुतः पानी स्थिर है, हम स्वयं चलते हैं और अपनी गति के आधार पर पानी को घटा-बढ़ा अनुभूत करते हैं। इसी प्रकार समय का पुष्कर स्थिर होता है। प्राणी अपनी जीवनी शक्ति से बढ़ता है। इस विकास को आयु का बढ़ना कहते हैं। वस्तुतः समय स्थिर ही रहता है, मनुष्य बूढ़ा हो जाता है। इसी प्रकार स्थान भी स्थिर होता है। सड़क पर चलनेवाला पथिक कहता है, सड़क तै कर ली। सच तो यह है कि राही तै हो जाता है, सड़क जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहती है। अतः दिक् और काल यथावत् स्थिर होता है, प्राणी चुक जाता है, रिस जाता है, क्षर हो जाता है, क्योंकि अपनी जीवनी शक्ति की सीमा के अनुसार ही प्राणी जीवित और वर्तमान रहता है। ईश्वर अक्षर इसलिए है कि वह किसी सीमित जीवनी शक्ति या ऊर्जा से बँधा नहीं है।

कुंठा

'कुंठा' शब्द संस्कृत की 'कुण्ठ्' धातु से व्युत्पन्न है। 'कुण्ठ्' धातु 'प्रतिघाते' (to be blunted) तथा 'वेष्टने' (to cover) अर्थों के अतिरिक्त 'कुठि' खोटने वैकल्ये आलस्ये च' इन तीनों अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। संस्कृत कोश में कुण्ठः, कुण्ठकः तथा कुण्ठितः ये तीन शब्द मिलते हैं। कार्य में मंद अथवा शिथिल को कुण्ठ कहा गया है,—कुण्ठति क्रियासु मन्दीभूतो भवति (कुठि + अच्)। अमरकोष (३।१।१७) में 'कुण्ठो मन्दः क्रियासु यः' कहा गया है। मेदिनी में कुण्ठः का अर्थ मूर्ख है। शंकर कवि-कृत विष्णुस्तोत्र में —'वैकुण्ठीयेऽत्रकण्ठे वसतु मम मतिः कुण्ठभावं विहायं कहा गया है।' 'कुण्ठभाव विहाय' अर्थात् कुण्ठभाव के परित्याग के पश्चात् जो मनःस्थिति होगी वही वैकुण्ठ है। दूसरा शब्द है कुण्ठकः—कुण्ठति कुण्ठयति वा आत्मानं जडीभूतं करोति—(कुठि + ण्वुल्)। शब्दमाला में इसका अर्थ मूर्ख लिखा गया है। यह शब्द मनोविज्ञान के (Masochist) शब्द की अर्थव्याप्ति रखता है। तीसरा शब्द कुण्ठितः है, जिसका अर्थ संकुचित है—(कुठि + कर्त्तरि क्त)। महानाटकम् में प्रयुक्त कुंठित का अर्थ संकुचित ही है—'दशवदनभुजानां कुण्ठिता यत्र शक्तिः। ये तीनों शब्द विशेषण हैं। इन विशेषणों का तीनो लिंगों में प्रयोग होने से नौ शब्द बनेंगे, जिनमें एक कुंठा भी है।

कुंठा शब्द का प्रयोग भाववाचक संज्ञा के रूप में यत्र-तत्र मिलता तो अवश्य है, किंतु कोशेतर ग्रंथों में। संस्कृताभिधान में कुंठा सर्वत्र स्त्रीलिंग विशेषण है। कुंठा की वर्तमान अर्थव्याप्ति वैकुंठ शब्द की पृष्ठभूमि पर भी परीक्षित की जा सकती है।

'वैकुंठ' संस्कृत में एक प्रसिद्ध शब्द है, जिसके प्रसंगानुकूल कई अर्थ किए गए हैं। इसका अर्थ भागवत में 'कृष्ण' मेदिनी में 'इंद्र' और राजनिघंट में 'सितार्जक' (श्वेत तुलसी) है। अमरकोष में 'वैकुंठ' विष्णु के पर्याय में प्रयुक्त है। विकुंठोत्पन्न को वैकुंठ माना गया है,—विकुण्ठाया अपत्यं वैकुण्ठः। कुंठा को माया का पर्याय माना गया है—कुण्ठत्यनया कुण्ठा माया। (कुठि

खोटनवैकल्यालस्ये सेमक्तात् सरोरिति अः—वैकुण्ठः)। और भी कई दृष्टियों से वैकुंठ की परिभाषा की गई है,—'विविधा कुण्ठा माया विद्यतेऽस्य वैकुण्ठः' 'विविधा कुण्ठा गतेः प्रतिहतिस्तस्याः कर्त्ता इति वैकुण्ठः' इत्यादि। कुण्ठ्—वेष्टने—(कुण्ठयति) के अर्थ में वैकुण्ठ सृष्टि के आरंभिक विशिष्ट भूतों के परस्पर संश्लेष को भी कहते हैं,—

'मायासंश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम्ना च वायुना
वायुश्च तेजसा सार्द्धं वैकुण्ठत्वं ततो मम।'

(शांतिपर्व)

वैकुंठ एक लोक-विशेष का भी नाम है, जिसके अधिपति विष्णु हैं। यह लोक तप-त्याग, योग शास्त्र तथा ज्ञान ध्यान के माध्यम से ही उपलब्ध हो स·ता है—ज्ञानेन शास्त्रमार्गेण द्रक्ष्यते योगिपुङ्गवैः।' पाद्योत्तर खंड के २६ वें अध्याय में ही आगे ओर वर्णन है—

'महात्मनो महाभागा भगवत्पदसेवकाः।
तद्विष्णोः परमं धाम यान्ति ब्रह्मसुखप्रदम्।
नानाजनपदाकीर्णं वैकुण्ठं तद्धरेः पदम्।'
'मोक्षं परं पदं लिङ्गममृतं विष्णुमन्दिरम्।
अक्षरं परमं धाम वैकुण्ठं शाश्वतं परम्।'

महाकवि विल्हण ने भी कुंठत्व शब्द का प्रयोग किया है,—

कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।
कुयादनार्द्रेषु कियङ्गनानां केशेषु कृष्णागरुधूपवासः।

(विक्रमांकदेवचरितम्)।

विकुण्ठा शब्द का भी प्रयोग कई स्थलों पर कई अर्थों में मिलता है,—

'कुण्ठं जडञ्च विश्वौघं विशिष्टञ्च करोति या
विकुण्ठां प्रकृतिं वेदाश्चत्वारश्च वदन्ति ताम्।'

(अमरटीका)

'चाक्षुषस्यांतरे देवो वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः
विकुण्ठायामसौ जज्ञे वैकुण्ठे दैवतैः सह।'

(विष्णुपुराण)

'पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम्।'

(भागवत)

निष्कर्षतः वैकुंठ का अर्थ कुंठारहित या अकुंठ या निष्कुंठ हुआ। 'कुण्ठः' कुंठाग्रस्त या सकुंठ को कहा जाएगा और कुंठः कुण्ठः के मनोविकार

की भाववाचक संज्ञा हुई। वैकुण्ठाः कुंठारहित व्यक्ति की आख्या होगी। समासतः भाववाचक स्त्रीलिंग शब्द कुंठा के अनेक अर्थ होंगे,—आलस्य, संकोचित्व, माया, विकलता, गत्याघात, निरोधन, अंतर्बाध, आवेष्टन, मूर्खत्व, दमन, घिसा हुआ इत्यादि।

आधुनिक, हिंदी-साहित्य में कुंठा का प्रयोग जिस विशिष्ट अर्थ-संदर्भ में किया जाता है, उसके अन्वेषण के लिए अँगरेजी प्रतिशब्द पर भी विचार अपेक्षित है।

अँगरेजी में कोई एक ऐसा प्रतिशब्द नहीं है, जो 'कुंठा' को वर्तमान अर्थ-व्याप्ति के साथ व्यक्त करने की शक्ति रखता हो। इस प्रसंग में अनेक अँगरेजी शब्दों की चर्चा की जा सकती है या चर्चा हो भी चुकी है, जैसे,—

Inhibition (अंतर्निरोध या निरोध), Inhibition retroactive (अंतर्निरोध पश्चगामी), Repression (अवदमन), Supression (दमन), Frustration (क्लेश, हताशा) इत्यादि। मनोविज्ञान में इन शब्दों में अर्थांतर है। कुंठा की आधुनिक अर्थवत्ता को एक बड़ी सीमा तक शब्द Inhibition व्यक्त कर पाने की शक्तिमत्ता रखता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य की प्रबल आकांक्षाओं की सिद्धि के मार्ग में यदि ऐसी बाधाएँ आ पड़े, जिनका निराकरण उसकी शक्ति के बाहर हो तो उससे जो स्थिति उत्पन्न होगी, उस मनोदशा के लिए कुंठा, हताशा, दबाव, निरोध, अंतर्निरोध, अवरोध, बाधा, क्लेश, दमन, अवदमन, कुंठितावस्था इत्यादि कई शब्द दिए जाते हैं। इन सबों के समानांतर मनोविज्ञान की शब्दावली है, मानसिक अंतर्द्वंद्व। इसीलिए, विकल्प को भी मनोविज्ञान कुंठा (निरोध) मानता है।

कुंठा है Inhibition और वैकुंठ Sublimation।

आधुनिक हिंदी-साहित्य में विशेषकर कविता और कविता की रचना-प्रक्रिया के क्रम में कुंठा का प्रयोग होता है। इस आसंग में कुंठा को उदात्त-प्रेरक-तत्त्व और सदोष तत्त्व दोनों ही माना गया है।

समग्र सृष्टि ही कुंठा-ग्रस्त है। ऐसे प्रयोग में 'कुंठा' अभाव अथवा आनंद-रहित स्थिति का भावबोध रखनेवाला व्याप्तिपूर्ण शब्द है। अतः कुंठा-ग्रस्त ही वैकुंठ की आकांक्षा करता है, जैसे मनुष्य ईश्वरत्व की अभिलाषा करता है। रचना-प्रक्रिया के दो तटबंध हैं कुंठा और वैकुंठ। यह प्रक्रिया सृष्टि-तत्त्व से साहित्य तक क्रियान्वित है।

पुस्तक

पुस्तक शब्द के पाँच संस्कृत-पर्याय मिलते हैं—पुस्त, पुस्ती, पुस्तक, पुस्तिका एवं ग्रंथ। हिंदी में संस्कृत के उपर्युक्त सभी नामों के अतिरिक्त पोथी, बही और किताब शब्द हैं। विभिन्न भारतीय भाषाओं में पुस्तक के प्रतिशब्द इस प्रकार हैं—पंजाबी में पुस्तक और किताब, उर्दू में किताब, कश्मीरी में किताब, सिन्धी में किताबु, मराठी में पुस्तक और ग्रंथ गुजराती में चोपड़ी, बँगला में बइ और पुस्तक, असमी में पुठि और किताप, उड़िया में वहि, तेलुगु में पुस्तकमु, तमिल में नूल् और पुस्तकम्, मलयालम में पुस्तकम् और कन्नड़ में पुस्तक और होत्तगे शब्द प्रचलित हैं।

विदेशी भाषाओं में पुस्तक-प्रतिशब्द हैं,—Book (English), Livre (French), Libro (Italian), Libro (Spanish), Livro (Portuguese), Buch (German), Kniga (Russian), Vivlion (Greek) Boek (Dutch), Bok (Swedish), Bog (Danish), Bok (Norwegian), Ksiazka (Polish), Kirja (Finnish), Libro (Esperanto), Hon (Japanese), Sefer (Hebrew), Buku, Kitab (Indonesian), Kitap (Turkish), Kit (Arabic).

पुस्तक शब्द का निर्माण और पुस्तक का प्रचलन कब हुआ, इसका निश्चय-निर्णय भाषा, साहित्य, लेखन इत्यादि के सापेक्ष है। यह निश्चय निर्विवाद है कि—मानव-जाति ने अपनी वाक् शक्ति को भाषा का रूप पहले दिया होगा, फिर साहित्य की रचना हुई होगी और उसके स्थायित्व के लिए लेखन की आवश्यकता अनुभव की गयी होगी। लेखन के आविष्कार के अनंतर पुस्त-बन्ध (Book-binding) की आवश्यकता हुई और फिर हस्तलेख या पाण्डुलिपि की विधि में मन्द-गति को देखकर मुद्रण की आवश्यकता सिद्ध हुई, जिसके परिणाम-स्वरूप मुद्रणालय का प्रचलन हुआ। अत: पूर्वापर क्रमानुसार, मानव-जाति का पुस्तक-संबंधी-प्रयत्न इस प्रकार स्थिर किया जा सकता है---वाक्, भाषा, साहित्य रचना, लेखन, पुस्तक-प्रणयन और अन्त में मुद्रण।

पुस्तक प्रणयन-पद्धति से साहित्य प्राचीनतर है। पहले लिखने की प्रथा नहीं थी। मानव-जाति को अपनी स्मरण-शक्ति पर भरोसा करना पड़ता था। वेद का नाम 'श्रुति' इसी श्रुति-परंपरा या स्मरण-पद्धति को सिद्ध करनेवाला है। 'मुखस्थ विद्या' में भी लेखन की अस्वीकृति है। मैक्समूलर ने अनेक अनुसंधानों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पाणिनि के समय तक भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान नहीं था। लेकिन ऐसी बात नहीं है। भारतीयों को लिपि-ज्ञान था। इस बात की सिद्धि अनेक प्रमाणों से हो सकती है; जैसे— ऋग्वेद में अष्टकर्णी गायों का उल्लेख; छांदोग्योपनिषद् में 'अक्षर' का उल्लेख; पाश्चात्यों ने अंकों का ज्ञान अरबों से प्राप्त किया; अरबों ने भारतीयों से, इसीलिए वे अंकों को 'हिन्दसा' कहते हैं; रामायण, महाभारत एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र के उल्लेखों से लिपिज्ञान की प्राचीनता, बौद्ध ग्रंथ 'विनयपिटक' में लेखन-कला की प्रशंसा 'पन्नावणा सुत्त' में १८ तथा ललित विस्तर में ६४ लिपियों का उल्लेख; बौद्ध ग्रंथ 'सूतन्त' में बालकों के 'अक्खरिका' नामक खेल का उल्लेख; जातकों में सुवर्ण-पत्र का उल्लेख; एरियन द्वारा अपनी पुस्तक 'इंडिका' में भारतीयों के कागज बनाने की कला के ज्ञान का उल्लेख, इससे स्पष्ट है कि इससे पूर्व उन्हें लिपि-ज्ञान था; मेगास्थनीज द्वारा क्रोश-शिलाओं पर अक्षरोत्कीर्णता का उल्लेख, ह्वेनसांग द्वारा लिपि-ज्ञान का वर्णन, सिन्धु-घाटी में प्राप्त सामग्री में भारतीयों का लिपि-ज्ञान—इन सभी प्रमाणों से लेखन-कला की प्राचीनता सिद्ध होती है। यहाँ तालपत्र, भोजपत्र इत्यादि पर लिखा जाता था और ये आधार-पदार्थ अधिक दिनों तक सुरक्षित नहीं रह सके, इसलिये विद्वानों ने अनुमान लगाया कि भारतीयों को लिपि-ज्ञान नहीं था। दूसरी बात यह थी कि लिख देने पर कंठाग्र करनेवाली पद्धति में व्यवधान आता था। इसीलिए वेदादि को लिखकर नहीं, सुनकर स्मरण करने का आदेश था,—

"वेदस्य लिखनं कृत्वा यः पठेत् ब्रह्महा भवेत्।
पुस्तकं वा गृहे स्थाप्यं वज्रपातो भवेद्ध्रुवम्।"

(पद्मोत्तर खण्ड : ११७ अध्याय)

अर्थात् वेदों को लिखकर पढ़ना ब्रह्महत्या के समान है। इस आदेश का एक और कारण था, सुनकर वेदों को स्मरण करने से उदात्त-अनुदात्त-स्वरित इत्यादि प्रणालियों का प्रत्यक्ष अभ्यास एवं ज्ञान हो जाता था, जो लिखित वेदों को पढ़ने से संभव नहीं था। स्मरण करने के कौशल के आधार पर उपाध्यायों की श्रेणियाँ हो गई; जैसे,—

चतुर्वेदी या चतुर्धुरीण (चौबे, चौधरी) त्रिवेदी या त्रिपाठी (तिवारी) द्विवेदी (दूबे) इत्यादि ।

प्राचीन काल में लिखने के अनेक आधार थे—भोजपत्र (भुर्ज-त्वचा), ताड़ का पत्ता (ताल-पत्र), कागज (कर्गल), कपड़ा (वस्त्र, पट) काठ की पट्टी (काष्ठ-पट्टिका), चमड़ा (चर्म), पत्थर (प्रस्तर), ईंट (इष्टिका), सोना (स्वर्ण), लोहा (लौह), काँसा (कांस्य), ताँबा (ताम्र), पीतल (पित्तल), चाँदी (रजत), मिट्टी (मृत्तिका), छाल (वल्कल) इत्यादि।

लिपि के विकास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि चित्र-लिपि (Pictorial Script) प्राचीनतम है । फिर संकेत-लिपि (Ideographic Script) और अन्त में ध्वनि-लिपि (Phonetic Script) का आविष्कार हुआ । ध्वनि-लिपि सर्वथा पूर्ण लिपि समझी जाती है । 'देवनागरी' लिपि इसके अन्तर्गत आती है । एक और वर्गीकरण के द्वारा लिपि दो प्रकार की है,—(१) अक्षरात्मक (Syllabic) तथा वर्णात्मक (Alphabetic) ।

निषेधपूर्वक ही, प्राचीन लेखनाधारों के संबंध में पद्मोत्तरखण्ड में इस प्रकार उल्लेख है,—

"भूर्जे वा तेजपत्रे वा ताले वा ताल पत्रके ।
अगुरुणापि देवेशि ! पुस्तकं कारयेत् प्रिये ।
संभवे स्वर्णपत्रे च ताम्रपत्रे च शङ्करि ।
अन्यवृक्षत्वचि देवि ! तथा केतकिपत्रके ।
मार्त्तण्डपत्रे रौप्ये वा वटपत्रे वरानने ।
अन्यपात्रे वसुदले लिखित्वा यः समभ्यसेत् ।
स दुर्गतिमवाप्नोति धनहानिर्भवेद् ध्रुवम् ।"

तालपत्रादि पर लिखित पाण्डुलिपित पुस्तक की प्रतिलिपि हुआ करती थी । प्रतिलिपिकार को 'लेखक' की आख्या दी गई है । इस कथित 'लेखक' को भी ज्ञानवान्, होना चाहिए, ऐसा आदेश मत्स्यपुराण (अध्याय १८९) में प्राप्त होता है,—

"सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्र-विशारदः
लेखकः कथितः राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै
शीर्षोपेतान् सुसंपूर्णान् समश्रेणिगतान् समान्
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु लेखकः सः वरः स्मृतः ।"

चाणक्य-नीति में लेखक के गुण का उल्लेख है,—

"सकृदुक्तगृहीतार्थो लघुहस्तो जिताक्षरः
सर्वशास्त्रसमालोकी प्रकृष्टो नाम लेखकः ।"

'पुस्तक' तथा 'ग्रंथ' ऐसे अन्य शब्दों का विकास 'बाँधने' की क्रिया से हुआ है । शब्द-व्युत्पत्ति से यह सिद्ध होता है — पुस्त् 'बन्धे',— पुस्त् + धञ् = पुस्तः । पुस्त + क = पुस्तकम् । (पुस्त्यते बध्यते, ग्रथ्यते वेति) । पुस्त + ङीप् = पुस्ती । पुस्ती का अपभ्रंश 'पोथी' । पुस्तक + टाप् = पुस्तिका । ग्रंथ— ग्रथ् + घञ् = ग्रन्थः । (ग्रथ्यते विरच्यते) ग्रंथ शब्द में गूँथना, बाँधना रचना आदि क्रियाओं का भाव है । 'पुस्तक' में भी यही भाव है । इस शब्द की सिद्धि दो प्रकार से होती है । एक तो यह कि ताल-पत्र, भर्जुपत्र इत्यादि पर लिखकर उसे पुस्तक या ग्रंथ का आकार देने के लिए उसे गूँथना और बाँधना पड़ता था । इसी अर्थ की व्याप्ति होती गयी और आधुनिक अर्थ में पुस्तक या ग्रंथ की अर्थ-व्याप्ति निश्चित हो गयी । दूसरा यह कि पुस्तक या ग्रंथ में भावों और विचारों को गूँथा, बाँधा या रचा जाता है, काव्यार्थ में ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्' (काव्य-उल्लास-१०) कहा गया है । भट्टिकाव्य में "ग्रन्थिस्त्वेव स्थितः रुचः" "यमलोकमिवा ग्रथ्नात्" कहा गया है । माला गूँथने के अर्थ में ग्रन्थ' का उल्लेख अनेकत्र है-—'ग्रथ्नाति मालां मालिकः (शब्द-कल्पद्रुम) महाभारत में 'ग्रंथ' का अर्थ 'शास्त्र' है,—

"ग्रन्थग्रन्थि तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात् ।"

(महाभारतः १।१।८०)

ग्रंथ शब्द से तेलुगु में 'ग्रान्थिक' शब्द बन गया है, जिसका अर्थ श्रेण्य (classical) है । इसी आधार पर श्रेण्यता (classicism) के लिए वहाँ 'ग्रान्थिकता' शब्द है । 'ग्रंथि' गाँठ को कहते हैं । मनोविज्ञान में 'ग्रंथि' मनो 'ग्रंथि' है ।

अँगरेजी में 'book' शब्द प्राचीन अँगरेजी के boc, bec (बहुवचन) से निकला है, जिसका अर्थ beach tree होता है । वृक्षवल्कल पर लिखने के कारण book शब्द निष्पन्न है ।

अँगरेजी का Paper शब्द भी फ्रेंच शब्द Papier से बना है । फ्रेंच Papier शब्द लैटिन के Papyrus से निष्पन्न है और मूलतः लैटिन का उपयुक्त शब्द भी ग्रीक शब्द Papyros से निकला है । Papyros पेड़ का नाम है । संस्कृत का 'पत्र' शब्द मूलतः वृक्षपत्र ही है, जिससे कागज के अर्थ में

पत्र, पन्ना इत्यादि शब्द आये। तालपत्रादि भी Book और Paper के समार्थी है।

पुस्तक-लेखन के साथ ज्ञानदान एवं पुस्तकदान की भी प्राचीनकाल में महत्ता थी, -

"विप्राय पुस्तकं दत्वा धर्मशास्त्र च द्विज।
पुराणस्य यो दद्यात् स देवत्वमवाप्नुयात्।
शास्त्रदृष्ट्या जगत् सर्वं सुश्रुतश्च शुभाशुभम्।
तस्मात् शास्त्रं प्रयत्नेन दद्याद्विप्राय कार्त्तिके।
वेदविद्याश्च यो दद्यात् स्वर्गे कल्पत्रयं वसेत्।
आत्मविद्याश्च यो दद्यात्तस्य संख्या न विद्यते।
त्रीणि तुल्य प्रदानानि त्रीणितुल्यफलानि च।
शास्त्रं कामदुधा धेनुः पृथिवी चैव शाश्वती।"

(पद्मोत्तर खण्ड : अध्याय ११७)

अँगरेजी में भी पुस्तक-महात्म्य पर लिखा गया है। पुस्तक को संस्कृति की संरक्षिका कहा गया है,—

"Books are the legacies that a great genius leaves to mankind, which are delivered down from generation to generation as presents to the posterity of those who are yet unborn."

(Addison The Spectator, No 166)

बेकन ने पुस्तक को पवित्र संघाराम कहा है, जहाँ सन्तों का निवास होता है,—

"Books are the shrine where the saint is or believed to be."

(Francis Bacon, Letter to Sir Thomas Bodley, 1605)

बेनेट ने किताब को कंपास और दूरवीक्षण-यंत्र की संज्ञा दी है,—

"Books are the Compasses and talescopes and sextants and charts which other men have prepared to help us navigate the dangerous seas of human life."

(Tesse Lee Bennett)

सिसरो ने पुस्तक को गृहात्मा कहा है,—

"A room without books is as a body without a soul."

(Cicero)

रिचार्ड ली ने पुस्तक के सामासिक महत्त्व को इस प्रकार स्वीकार किया है,--

Books, those miraculous memories of high thoughts and golden moods; those magical shells tremulous with the secrets of thc ocean of life; those honeycombs of dreams; those orchards of knowledge; those still-beating hearts of the noble dead; Prisms of beauty; urns stored with all the sweets of all the summers of time; immortal nightingales that sing for ever to the rose of life.

(Richard Le Gallienne)

धीरे-धीरे, पुस्तक-प्रणयन के अनंतर पुस्तकालय का भी प्रचलन हो गया। पुस्तकालय कोई नया शब्द या नयी-पद्धति नहीं है। नालन्दा-संघाराम के ग्रंथागार का वर्णन बहुत स्थलों पर है। बख्तियार खिलजी के आक्रमण से ज्ञान का वह विश्वविद्यालय-केन्द्र नष्ट हो गया। ताल-भुर्जादि-पत्रित पाण्डुलिपियाँ महीनों तक जलती रहीं। कुछ बौद्ध भिक्षुक कुछ पाण्डुलिपियाँ लेकर नेपाल, तिब्बत, चीन इत्यादि देशों में चले गये। हजारों वर्ष बाद महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने उन-उन स्थानों से पाण्डुलिपियों एवं उनकी प्रतिलिपियों को पुनः प्राप्त किया।

अभी मास्को में संसार का सबसे बड़ा पुस्तकालय है, जिसमें लगभग डेढ़ करोड़ पुस्तकें सुरक्षित हैं। ब्रिटिश म्युजियम लाइब्रेरी का स्थान दूसरा है। भारत में कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी का स्थान सर्वोपरि है। पुस्तकालय-संचालन को एक कला मान लिया गया है। अब इसमें परीक्षाएँ भी होती हैं और उपाधियाँ दी जाती हैं। राष्ट्रीय पुस्तकालय के साथ भिन्न-भिन्न संस्थानों के अपने पुस्तकालय होते हैं। इन सार्वजनिक पुस्तकालयों के अतिरिक्त व्यक्तिगत पुस्तकालय भी होते हैं। अब तो चलता-फिरता सार्वजनिक पुस्तकालय (संचरणशील पुस्तकालय) भी बन गया है। नागरिकों को सदस्यता-शुल्क देने पर घर बैठे पुस्तकें प्राप्त हो जाती हैं। डाक द्वारा पुस्तकालयों से पुस्तक प्राप्त करने की प्रथा इससे पहले से ही कार्यान्वित है।

पुस्तक समग्र मनुष्य-जाति की मनीषा और सांस्कृतिक उपलब्धि की शाश्वत प्रतीक के रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित है।

प्रपद्य

'प्रपद्य' छायावादोत्तर हिंदी-काव्यांदोलन की कविता है। प्रपद्यवाद को नकेनबाद नाम से भी जाना गया। 'नकेन' नाम तीन नामों के अद्याक्षरों का समाहार है—नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश। 'नकेन' नाम इस वाद के प्रवर्तक एवं प्रयोक्ताओं की घोषणा करता है। ये प्रवर्तक-प्रयोक्ता केवल तीन हैं। इस वाद में अन्य कवियों की कोई भविष्यत् व्यवस्था नहीं। नकेनवादी नवीन नामांकन का वर्जन भी कर गये हैं,—'प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण वर्जित समझता है।'[1] नकेनवाद के लिए 'प्रपद्यवाद' नाम उसके सिद्धांतों को व्यक्त करने के लिए रखा गया।

प्रपद्य पद्य और गद्य का भरत-मिलाप नहीं है। पद्य का अर्थ है कविकृति (पदं चरणमर्हति इति पद्यम्)। प्र उपसर्ग-पूर्वक पद् धातु से यत् प्रत्यय लगने पर प्रपद्य शब्द निष्पन्न होता है। पद्यते—प्रपद्यते। वस्तुतः प्रपद्य एक प्रपत्ति है, प्रपद्यमान प्रालेख है या उत्कृष्ट पद्य। अथवा, 'प्रपद्य' एक प्रपद्यमान प्रक्रिया है; प्रपन्न निष्कर्ष नहीं। प्रयोग को साध्य के रूप में स्वीकार करनेवाले इस तंत्र का नाम प्रपद्य (प्रपद्यमान) उपयुक्त ही है। कविता और संपन्नशीलता का सूचक शब्द 'पद्य' अपने 'प्र' का अनेकार्थ रखता है। 'प्र' के अर्थ प्राथम्य से लेकर आरंभ, प्रकर्ष, ख्याति, गति, अग्रोन्मुखता, आयाम तक एकाधिक हैं। पद्य के साथ 'प्र' उपसर्ग अपने समस्त अर्थों के साथ घटित-घटमान हो सकता है। लेकिन यह तो शब्दाश्रित अर्थानुसंधान है। ऐतिहासिक वास्तविकता यह है कि 'प्रपद्य' नाम 'प्रयोगवादी पद्य' का सांकेतिक सार-संक्षेप नाम है। 'प्रयोगवादी' शब्द का 'प्र' और 'पद्य' मिलकर समस्त पद 'प्रपद्य' हो चला। 'पाटल' में प्रकाशित कविताओं के लिए 'प्रयोगवादी पद्य' और बाद में 'प्रपद्य' नाम दिया जाने लगा।

प्रपद्यवाद का कोई पूर्व प्रपद्य नहीं मिलता, न ही प्रपद्यवादी इसे स्वीकार ही करते हैं,—'प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्तियों की परिपाटियों को भी निष्प्राण

मानता है।'[2] इसी प्रकार वे किसी 'उत्तरप्रपद्य' के अस्तित्व का भी वर्जन कर चुके हैं—'प्रपद्यबाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण वर्जित समझता है।'[3]

वस्तुतः नकेनवादी ही प्रथम प्रयोगवादी थे। अज्ञेय के संपादन में प्रकाशित 'तार सप्तक' (१९४३ ई०) की भूमिका में उन कविताओं के लिए प्रयोगशील आख्या दी गई थी। प्रयोग और प्रयोगवाद का लिखित अस्वीकार अज्ञेय ने इस प्रकार किया था,—

"प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है" तो प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है।"[4]

इस प्रकार अज्ञेय ने अपने को प्रयोगवादी नहीं माना। और आश्चर्य यह कि सप्तकों की कविताएँ प्रयोगवादी मान ली गईं, जबकि नकेनवादियों की स्पष्ट घोषणा के बावजूद उन्हें प्रयोगवादी नहीं माना गया। जब प्रयोगशील की सप्तकीय कविताओं को प्रयोगवादी का बैनर दे दिया गया तो नकेनवाद के समक्ष नामकरण की समस्या आ खड़ी हुई। परिणामतः 'नकेनवाद' का 'प्रयोगवादी पद्य' कालांतर में प्रपद्यवाद बन गया। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में पद्य की परिभाषा इस प्रकार की है,— 'छन्दोबद्धपदं पद्यम्।' छन्दोमंजरी में भी यही छंदःसम्मत अर्थ है,—"पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा; वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्।" किंतु प्रपद्यवादी ने स्वच्छन्द छंद में रचना की। इस प्रपद्यवादी कविता का आरंभ छायावाद के तत्काल बाद होता है,—

"प्रयोगवाद पर इतना कुछ लिखे जाने के बाद भी शायद यह कह देने की जरूरत है कि हिंदी-कविता में प्रयोगवाद का वास्तविक आरंभ १९३६-३८ में लिखी गई नलिन विलोचन शर्मा की कविताओं से होता है, जिनमें से कुछ ही पत्र-संपादकों के हलक के नीचे उतर सकी थीं।"[5]

प्रपद्यवाद के सूत्रों का प्रकाशन और प्रपद्यवाद की आवश्यकता वस्तुतः आलोचकों की गलत व्याख्या का परिणाम है,—

"इस प्रकार सप्तकों में जिस काव्य की सैद्धान्तिक व्याख्या हुई, वह प्रयोगशील की थी, प्रयोगवादी की नहीं और अगर हिंदी के सुधी समीक्षक अज्ञेय

की उपर्युक्त व्याख्या को प्रयोगवाद की व्याख्या न मान लेते तो 'प्रयोग-दश-सूत्री' के प्रकाशन की आवश्यकता न होती।"[6]

प्रपद्यवाद के प्रयोग-दश-सूत्री (प्रयोगवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप) का प्रकाशन नरेश के संपादन में प्रकाशित 'प्रकाश' में १९५२ ई० में हुआ था। फिर इसके दो नये सूत्रों को १९५४ ई० में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार अब यह प्रपद्य-द्वादश-सूत्री के नाम से प्रचलित-अभिज्ञात हुआ।

इस 'प्रपद्य' नाम पर अनेक अनुकूल-प्रतिकूल विचार हुए। प्रपद्य को गद्य-पद्यात्मक मानने से Proem तक का रूपांतर माना गया। यहाँ कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है।

रिचर्ड्स की कविताओं का एक संग्रह छपा "Good bye Earth and other Poems." इसका प्रकाशन १९५८ ई० में हुआ। उन्होंने इसकी भूमिका का शीर्षक दिया Proem। जब पुस्तक छप-छपाकर बाजार से आई तो 'एक' और बाद में एकाधिक 'अधीती' प्रवाचकों ने फतवा दिया—'प्रपद्य' Proem की पद्धति पर निर्मित शब्द है। Proem अर्थात् Prose + Poem = Pro + em = Proem।

किंतु रिचर्ड्स की कविता-पुस्तक का प्रकाशन १९५८ ई० में हुआ था; जबकि 'नकेन के प्रपद्य' का १९५६ ई० में। प्रपद्य नाम १९५८ के बहुत पहले निर्मित हो चला था। फिर रिचर्ड्स ने Proem का प्रयोग भूमिका (Preface) के लिए किया है। Proem ग्रीक-शब्द-मूल से पुरानी अँगरेजी (O. E.) में लैटिन और फ्रेंच का सफर करते आया तो इसका रूप था Proheme जो बाद में Proem हो गया और जिसका अर्थ था और आज भी है,—Prelude, Preamble, Preface यह किसी गद्य-पद्यात्मक विधा की ओर भी संकेत नहीं करता। 'प्रपद्य-द्वादश-सूत्री' के सूत्र हैं,—

१. प्रपद्यवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है।
२. प्रपद्यवाद सर्वतंत्र-स्वतंत्र है, इसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं।
३. प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्त्तियों की परिपाटियों को भी निष्प्राण मानता है।
४. प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण वर्जित समझता है।

५. प्रपद्यवाद को मुक्तकाव्य नहीं, स्वच्छंद काव्य की स्थिति अभीष्ट है।
६. प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रपद्यवादी साध्य।
७ प्रपद्यवाद की दृक्वाक्यपदीय प्रणाली है।
८. प्रपद्यवाद के लिए जीवन और कोष कच्चे माल की खान हैं।
९. प्रपद्यवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छंद का स्वयं निर्माता है।
१०. प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसंधान है।
११. प्रपद्यवाद मानता है कि पद्य में उत्कृष्ट केंद्रण होता है और यही गद्य और पद्य में अंतर है।

१२. प्रपद्यवाद मानता है कि चीजों का एकमात्र सही नाम होता है।[7]

ये सभी सूत्र व्याख्यापेक्षी हैं। प्रथम सूत्र है : 'प्रपद्यवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है।' भाव और व्यंजना का तात्पर्य प्रचलित शब्दावली में भावपक्ष और कलापक्ष से है। प्रपद्यवाद में भाव और कला का सम्यक् समन्वय ही नहीं संतुलन भी है। इस समन्वय और संतुलन की जगह 'स्थापत्य' का प्रयोग सोद्देश्य है। स्थापत्य वह शिल्प-शैली है, जिसके माध्यम से कविता का स्थपति अपने भावों को अभिव्यक्त-स्थापित करता है। 'व्यंजना' और स्थापत्य दोनों मिलकर कला-कौशल की आवृत्ति करते हैं। अर्थात् कविता के लिए भाव से अधिक व्यंजना-कौशल अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह अभिप्रेत है। 'भाव' भावयिता के मनस्संस्कार तथा रचना-प्रक्रिया के अनुकूल अपनी व्यंजना स्वयं ग्रहण कर लेता है। जिस प्रकार बीज अपनी शक्ति और स्वास्थ्य के अनुकूल वृक्षत्व धारण कर लेता है, उसी प्रकार कवि के संस्कार में अधिगत-आयत्त भाव अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है। एक ही 'भाव' भावक-भिन्नता के कारण कहीं कविता, कहीं कहानी, कहीं निबंध, कहीं संस्मरण बनकर निर्गत होता है। अतः भाव की प्रधानता इस बात में है कि वह अपने अधिवास-परिवेश के संस्कारों के अनुकूल व्यंजना प्राप्त कर लेता है। यहीं सूत्र का संकेत सिसृक्षा, सर्जन-प्रक्रिया और उपस्थापन-स्थापत्य-कला से भी है।

प्रपद्यवाद का द्वितीय सूत्र है : "प्रपद्यवाद सर्वतंत्र-स्वतंत्र है, इसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं।" इस सूत्र में कई महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। सर्वतंत्र-स्वतंत्र का एक अर्थ तो यह कि यह काव्य किसी प्रतिबद्धता या प्रतिश्रुति को अस्वीकार करता है। किसी भी साहित्यिक या राजनीतिक वाद से यह मुक्त है। 'सर्वतंत्र से स्वतंत्रता' का तात्पर्य सभी शास्त्रों एवं अभिव्यक्ति-

तंत्रों से मुक्तता भी है। फिर शास्त्रों से स्वतंत्रता का अर्थ कविपंथ से है। प्रपद्य वाद रीतिबद्ध नहीं, रीतिमुक्त काव्य है। दल-निर्धारित नियम से भी स्वतंत्रता तथा दल-निर्धारित-नियमों के निर्माण की अनुपयुक्तता का अभिप्रेत है कविता को जनतांत्रिक स्वतंत्रता देना। नियम बनाकर कविता करना, उत्तम कवि का लक्षण नहीं है। कविता से नियम ही नहीं निकलते, आलोचकों के लिए आलोचना-निकष भी तैयार हो जाते हैं। तुलसीदास के काव्य से आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने और कबीरदास के काव्य से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शास्त्रोपस्कृत मूल्यांकन-मानों के रहते नए-नए आलोचना-मान निर्मित कर दिए। शास्त्रों के नियमों और लक्षणों को पढ़कर कविता लिखनेवाले रीतिकालीन कवि भक्त-कवियों से हीनतर ही रहे।

प्रपद्यवाद का तृतीय सूत्र है : "प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्तियों की परिपाटियों को भी निष्प्राण मानता है।" परंपरा निष्प्राण होती है, क्योंकि उसके निर्मित करनेवाले व्यक्ति वर्तमान तक जीवित नहीं दीखते। अतः परंपरा और परिपाटी की निष्प्राणता का तात्पर्य है, उसके अभियंता एवं स्थपतियों का अभाव। परंपरा का अक्षरशः पालन करनेवाला व्यक्ति समाज को यथास्थान सुरक्षित रख सकता है, उसे उत्थित-उद्वर्गित नहीं कर सकता। परंपरा-प्राप्त विचारों को शव-भार (Dead Weight) की संज्ञा दी जाती है, जो हमारे कंधों पर लदा रहता है। भार-ग्रस्त व्यक्ति की गति उन्मुक्त और क्षिप्रग नहीं होती। इस सूत्र से प्रपद्यवाद की वर्तमान-धर्मिता और विकासवाद के साथ प्रगतिवाद एवं विद्रोह-दर्शन भी सिद्ध होता है। प्रपद्यवाद का यह सूत्र सभी अतीत को व्यतीत सिद्ध करता है, अथवा सभी भूत को प्रेत प्रमाणित करता है।

किंतु रचनाकार परंपरा से सर्वथा विच्छिन्न नहीं हो सकता। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 'हिन्दी-साहित्य की महान् परंपराएँ' शीर्षक निबंध में साहित्य के अंतर्गत प्रवाहित उन पाँच परंपराओं का उल्लेख किया है, जो न्यूनाधिकतः सभी रचनाओं से अंतःस्पंदित रहती हैं। अर्थात् परंपरा वहीं तक ग्राह्य है, जहाँ तक वह वर्तमान को भविष्य के क्षितिज पर तीव्रता से उत्क्षिप्त करने में सहायक सिद्ध हो पाती है। यहाँ इस सूत्र में अतिशयोक्ति-दोष का आभास होता है। किंतु एक सीमा तक यह सिद्धांत सही भी है। आज तुलसीदास जैसे महान् पूर्ववर्ती की अनुकृति पर अवधी में रचना होने लग जाए तो यह वर्तमान युगधर्मिता के अनुकूल बात नहीं होगी। अतः महान् पूर्ववर्ती तुलसीदास की

परिपाटी आज वस्तुतः निष्प्राण है। कालसापेक्षता, साहित्येतिहास-संदर्भ तथा समृद्धि-रिक्थ के आधार पर ही तुलसीदास की महत्ता हो सकती है। तुलसीदास की रचना-परंपरा में युग-परिवर्तन के कारण अनुकरणीयता नहीं रह गई है। दूसरी बात अनुकरण से संबद्ध है। परिपाटी को वर्तमान में अनुकरण से जीवित रखने का तात्पर्य उसका अनुकरण करना है। अनुकृति अनुकृत से कभी उत्कृष्ट नहीं होती; पाठालोचन तथा साहित्येतिहास में पौर्वापर्य-निर्धारण-सिद्धांत द्वारा यह प्रमाणित होता है। जब प्रपद्यवाद अपनी मौलिकता एवं प्रयोग-नवीनता की घोषणा करता है, तो उसके लिए अनुकृति वर्जित होगी ही। अनुकृति के वर्जन का तात्पर्य परंपरा और परिपाटी की अस्वीकृति है। अतः प्रपद्यवाद की यह घोषणा कि "प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्तियों की परिपाटियों को भी निष्प्राण मानता है" सही है।

प्रपद्यवाद का चतुर्थ सूत्र है : 'प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण वर्जित समझता है।' अनुकरण के संबंध में तृतीय सूत्र की व्याख्या के क्रम में उल्लेख हुआ है। प्रपद्यवाद दूसरों का अनुकरण नहीं करता, यह प्रपद्यवाद की अपरम्परावादिता अथवा परंपरा को निष्प्राण मानने के सिद्धांत को पुष्ट करता है। अनुकृति में अनुहरण होता है, अनुहरण से मौलिकता नहीं आती। अतः अनुकृति में नूतन प्रयोग की संभावनाएँ भी नहीं रहती।

इसीलिए प्रपद्यवाद अनुकृति का विरोधी है। इसके साथ ही प्रपद्यवाद अपने अनुकरण का भी वर्जन करता है। संभवतः इसीलिए जिन तीन कवियों ने प्रपद्यवादी रचनाएँ कीं उनके नकेन-कक्ष में चौथा नाम सम्मिलित नहीं हो सका। किंतु हिंदी में प्रपद्यवादियों की कविताओं का अनुकरण हुआ है। प्रपद्यवाद के संबंध में परंपरा-प्रसंग की तरह अनुकरण-प्रसंग में कुछ आक्षेप उठाये जा सकते हैं। प्रपद्यवाद में कबीर और निराला का व्यंग्य, टी० एस० एलिएट और एजरा पाउण्ड का शब्द-प्रयोग, प्रगतिवादियों की तरह संस्कृति-भंजन इत्यादि कई अनुकरणवत् उदाहरण मिल जाते हैं। किंतु वस्तुतः यह अनुकरण नहीं है। प्रपद्यवादियों ने इनका प्रयोग कच्चे माल की तरह किया है, जिसकी पुष्टि आठवें सूत्र से होती है।

प्रपद्यवाद का पंचम सूत्र है : "प्रपद्यवाद को मुक्तकाव्य नहीं, स्वच्छंद काव्य की स्थिति अभीष्ट है।" इस सूत्र की टिप्पणी में दो बातें और अनुग्रथित हैं। एक तो "Vers Libere : Vers Libre" और दूसरे "भाष्य के लिए देखिए 'दृष्टिकोण' मासिक के प्रथम अंक का प्रथम निबन्ध।" इस सूत्र की

अभिव्यक्ति तंत्र-संबंधी अपनी अलग विशेषता है। यह भी शिल्पाश्रित सूत्र है। 'खुल गए छंद के बंध' जैसी अभिव्यक्ति में भी मुक्तछंद और स्वच्छंद छंद में सूक्ष्मतांतर की स्थिति नहीं थी।

फ्रेंच का Vers Libre, अँगरेजी का Free Verse और हिंदी का मुक्त छंद या मुक्तकाव्य समानार्थी शब्द हैं। इसी प्रकार फ्रेंच का Vers Libere, और हिंदी का स्वच्छंद छंद या स्वच्छंद काव्य समानार्थी शब्द हैं। मुक्तकाव्य का तात्पर्य काव्यगत छंदोविधान की परंपरा से मुक्ति है और स्वच्छंद काव्य का तात्पर्य काव्योपजीव्य अथवा काव्य-विषय एवं उसकी अभिव्यक्ति-पद्धति की स्वच्छंदता से है। नलिन विलोचन शर्मा ने अपने उक्त निबंध में इस अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा,—

"काव्य मुक्त होने पर भी स्वच्छंद नहीं हो सकता। इसी तरह स्वच्छंद होने पर भी वह मुक्त न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। मुक्तकाव्य का अर्थ पद्य-यंत्र (Verse Mechanism) से मुक्तिमात्र है। यदि कविता का रूप-विन्यास नियमानुमोदित नहीं है तो वह मुक्त मानी जायेगी। लेकिन हम अक्सर देखते हैं कि पद्य-कौशल-संबंधी मुक्ति के बावजूद कविता में विषयगत स्वच्छंदता नहीं आने पाती, कविता की आकृति तो बदल जाती है, किंतु उसकी प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं हो पाता।"

पोशाक बदलना मुक्तता है, जबकि विचार बदल लेना स्वच्छंदता। अधिक आवश्यक वैचारिक परिवर्तन है। परिधान-परिवर्तन अपेक्षया सरलतर भी है। केवल परिधान-परिवर्तन से ही कोई आधुनिक तथा प्रगतिशील नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए आजकल कुछ भारतीय युवक परिधान से हिप्पी हैं, किंतु विचार से नहीं। हिंदी की द्विवेदीकालीन कविताओं के विरुद्ध छायावादी आंदोलन छंदों की मुक्तता से ही आरंभ हुआ। निराला की आरंभिक कविताएँ मुक्त हैं, स्वच्छंद नहीं। माखनलाल चतुर्वेदी की कुछ कविताएँ स्वच्छंद हैं, मुक्त नहीं। वर्तमान हिंदी कविता की स्थिति मुक्तता और स्वच्छंदता दोनों की है।

स्वयं प्रपद्यवादी कविताएँ मुक्त और स्वच्छंद दोनों हैं। दोनों में प्रपद्यवाद के लिए अधिक अभीष्ट है स्वच्छंद काव्य। सूत्र-प्रपत्ति से ऐसा आभास मिलता है कि प्रपद्यवाद को मुक्त काव्य नहीं, स्वच्छंद काव्य की स्थिति अभीष्ट है। 'मुक्त काव्य' के साथ 'नहीं' का तात्पर्य गौणता से है। अर्थात् दोनों में प्रपद्य वाद स्वच्छंदता की स्थिति को अधिक आवश्यक मानता है।

प्रपद्यवाद का षष्ठ सूत्र है: "प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रपद्यवादी साध्य।" इस सूत्र के माध्यम से दो बातें कही गई हैं। एक तो यह कि स्पष्ट घोषणा के साथ प्रपद्यवाद 'प्रयोग' को साध्य मानता है। इतनी स्पष्टता के साथ तथाकथित प्रयोगवाद भी प्रयोग को साध्यता-सम्मत महत्त्व नहीं देता। दूसरी बात है प्रपद्यवाद की प्रयोगवाद से तुलना। इस तुलना में व्यंग्यांश भी है, जो इस सूत्र की टिप्पणी से स्पष्ट होता है। टिप्पणी है, "तुलना कीजिए—चरित्रशील और चरित्रवाद, प्रगतिशील और प्रगतिवाद के साथ।" प्रयोगशील और प्रयोगवाद में ऐप्रेंटिस और एक्सपर्ट का अंतर है। वास्तविक प्रयोगवादी तो प्रपद्यवादी ही थे, किंतु उन्हें यह आख्या चाहकर भी नहीं मिली, जबकि सप्तकीय कविताओं के लिए अनचाहे प्रयोगवाद नाम मिल गया। सप्तकीय कवियों की ओर से घोषित सूत्रों में प्रयोग को साधन ही माना गया था, साध्य नहीं, जबकि प्रपद्यवाद ने आगे आकर, साहस के साथ 'प्रयोग' को साध्यता प्रदान की। फिर भी प्रपद्यवाद 'प्रयोगवाद' की आकांक्षित-अपेक्षित आख्या धारण नहीं कर सका। यह समकालीन समालोचकों की उत्तरदायित्व-हीनता को स्पष्ट करता है। आज जब पुनर्विचार की स्थिति है; जबकि 'प्रयोगवाद' (तथाकथित) दिनातीत हो चला है; इसके बाद बीसियों काव्यां-दोलन हुए और प्रपद्यवाद के 'केन'—कवि (नकेन के आद्याक्षर कवि थे स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा) भी कभी-कभार ही लिखते हैं; 'नकेन के प्रपद्य' के बाद आज तक न कोई सामूहिक संग्रह निकल सका, न वैयक्तिक संग्रह—तो प्रपद्यवाद और प्रयोगवाद का न केवल पुनर्नामकरण हो, वरन् पुनर्मूल्यांकन भी हो। जीवन तो सभी जीवित व्यक्ति जीता है, किंतु विशिष्टता उसे मिलती है, जो प्रयोग करता है। चाहे वह महात्मा गांधी का 'सत्य के साथ प्रयोग' (Experiment with Truth) हो अथवा निराला का मुक्तछंद के लेखन का प्रयोग अथवा एजरा पाउण्ड की जीवन-शैली का प्रयोग। यह प्रयोग ही वर्तमान को भविष्य में उत्कर्षित करता है।

प्रपद्यवाद का सप्तम सूत्र है: "प्रपद्यवाद की दृक्वाक्यपदीय प्रणाली है।" इस सूत्र में दो पद व्याख्येय हैं,—(१) दृक्वाक्यपदीय और (२) प्रणाली। 'प्रणाली' प्रक्रिया की ओर संकेत करती है, जिसके अन्तर्गत सर्जन-प्रक्रिया, सिसृक्षा, सर्जनधर्म, सर्जनशीलता सभी आ जाती है। मुख्यतः 'दृक्वाक्यपदीय' शब्द व्याख्यापेक्षी है। 'दृक्', 'वाक्' (वाक्य), और 'पद' के मेल से दृक्वाक्य-पदीय' शब्द बनता है। दृक् का अर्थ दृष्टि और दर्शन है, वाक् (वाक्य) का अर्थ ध्वनि और अभिव्यंजनाधार है, पद का अर्थ परसर्ग-प्रत्ययादि-युक्त शब्द है, जो

वाक्य को निर्मित करने की योग्यता रखता है। इस सूत्र से रचना-प्रक्रिया के तीन आयाम स्पष्ट होते हैं। द्रष्टा दृश्य का अपनी दृष्टि के अनुकूल दर्शन करता है। दूसरी स्थिति में ध्वनि तथा ध्वन्यर्थ-व्यंजना का स्फोट-रूप आता है। तीसरी स्थिति में दृष्ट और ध्वनित को पद-निबद्ध किया जाता है। इसमें कवि (subject) और वस्तुजगत् (object) के मध्य द्रष्टा-दृश्य-संबंध, वक्ता-वाच्य-संबंध और संपादक-संपाद्य (पदो-पद्य-संबंध अथवा पदकार-पद-संबंध) स्थापित होता है।

इस स्थापना में 'पद' को अंतिम इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है। वैयाकरण भाषिकीविद् तथा रचना-विचारकों ने यह एकमत्य के साथ स्वीकार कर लिया है कि भाषा की अंतिम इकाई वाक्य है। यहाँ इस स्थापना में पद की ओर अंतिम इकाई के रूप में संकेत है। विभक्ति-हीन शब्द 'शब्द' होता है, जबकि विभक्तियुक्त शब्द 'पद'। इस स्थापना में वाक्य और शब्द से पृथक् 'पद' को महत्ता एवं पदार्थता प्रदान की गई है। काव्य और गद्य में इस पद और वाक्य का अंतर होता है। गद्यकार वाक्य एवं वाक्यविन्यास पर बल देता है, जबकि कवि शब्द और शब्द-संयोजन पर। अतः यहाँ पद की प्रधानता में सोद्देश्य सार्थकता है।

दृक्वाक्यपदीय की दूसरी व्याख्या भी हो सकती है। दृक् + वाक्यपदीय = दृक्वाक्पदीय। दृक् का अर्थ दृष्टि, दर्शन, देखना, Vision, बिंब, दृश्य, चित्र, इत्यादि किया जा सकता है। वाक्यपदीय—वाक्यं च पदं च वाक्यपदे ते अधि-कृत्य कृतं सूत्रं वाक्यपदीयम्।

यह नाम भर्तृहरि महाग्रंथ 'वाक्यपदीयम्' के पदार्थ-तत्त्व-विवेचन की ओर संकेतित करता है। भर्तृहरि ने काव्य-तत्त्व के अंतर्गत पदार्थ-तत्त्व का विस्तृत विवेचन किया है।

इस प्रकार इस सूत्र में प्राचीन 'वाक्यपदीय' तत्त्व, आर्ष-परंपरा का 'दृक्' (दृष्टि) तत्त्व (ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः) और आधुनिक 'प्रणाली' की रचना-प्रक्रिया का तत्त्व समन्वित है।

इस सूत्र की टिप्पणी में लिखा गया है,—"Verbi Voco Visual method" यह फ्रेंच-अँगरेजी शब्दों के मेल से बना पदांश है, जो दृक्वाक्य-पदीयता को लक्षित करता है। 'Verbi-Voco-Visual'—पद-ध्वनि-दृश्य (बिंब) की संगुंफित प्रणाली की ओर संलक्षित करता है। संस्कृत-पद से पहले दृष्टि, फिर ध्वनि और अंत में पद-विन्यास की प्रक्रिया है किंतु फ्रेंच-पदों से पहले पद, फिर ध्वनि और अंत में दृश्य का संकेत मिलता है।

इस सूत्र के समर्थन की कुछ पंक्तियाँ 'के'-लिखित मिलती हैं,—

"प्रपद्यवाद मानता है कि कविता की वास्तविक प्रेरणा वस्तुस्थिति से मिलती। वस्तुद्रष्टा के भीतर भाव-छवियाँ उत्पन्न करती हैं। उन छवियों के साथ द्रष्टा की आसंगतियाँ मिलकर एक दृष्टिबिंदु उत्पन्न करती हैं और जब उस दृष्टिबिंदु से कवि वस्तु को देखता है तब वह शक्ति के एक नए संश्लेष के रूप में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार कविता में सदा ही पुनर्निर्माण हुआ करता है।"

यह पुनर्निर्माण या पुनारचना (Re-construction) काव्य की सर्जन-प्रक्रिया की आवश्यक अभिसंधि के रूप में स्वीकृत है। अनुभूत और अनुभाव्य अथवा Subject एवं Object के मिश्रण से पदार्थ की पुनारचना होती है। अतः पुनर्निर्माण की पद्धतियों में द्रष्टा और दृश्य के अतिरिक्त आनुषंगिकता अथवा आसंगति और संश्लेष की अंतरंग क्रियाशीलता चलती रहती है। काव्यानुभूति अथवा काव्यरचना पृथक्ता की प्रक्रिया नहीं, वरन् संश्लेष का परिणाम है। यह बात इस उद्धरण से भी स्पष्ट होती है,—

"प्रपद्यवाद तरह-तरह से वस्तु-संश्लेष को देखता है और उसे नई संगतियों में देख सकने के कारण ही प्रपद्यवादी कवि अपने आधार के लिए नैतिक स्वीकृति पाता है। स्वीकृत संगतियाँ, व्यवहार में घिस-पिट जाने के कारण, व्यंजक नहीं होतीं, चूँकि वे स्वीकृत और नित्य अनुभूत होती हैं, इसलिए नई संगतियों की जटिलताओं को शब्दों में निर्णीत करते चलना प्रपद्यवाद का दृष्टिकोण होता है।"

प्रपद्यवाद का अष्टम सूत्र है : "प्रपद्यवाद के लिए जीवन और कोष कच्चे माल की खान हैं।" इस सूत्र में जीवन और कोश दो महत्त्वपूर्ण पद हैं, जिन्हें कच्चे माल की खान से रूपकान्वित किया गया है। 'जीवन' अनुभूति, प्रयोग और घटनाओं का आधार-फलक है और जीवित जीवन से प्रसूत—अनुभूत, प्रयुक्त और घटित का आधार-फलक कोश है। जीवन-प्रक्रिया में घटमान संवेदनाओं-घटनाओं का स्पंदन होता है, जबकि कोश में भुक्तोज्झित अनुभूतियों का प्रतीक-प्रतिनिधित्व।

प्रपद्यवादी के लिए जीवन और कोश उपयोगिता और प्रयोग की चीज नहीं होकर कच्चे माल की खान के रूप में है। जैसे कच्चा लोहा से पिस्तौल

पतीली, रॉकेट और छुरा, पंखा और मोटर कुछ भी बनाया जा सकता है—यह अभियंता पर निर्भर करता है। इसी प्रकार प्रपद्यवादी की दृष्टि में कोशगत शब्द रॉ मैटेरियल हैं, जिनका अभीष्ट काव्य की सर्जना में उपयोग किया जा सकता है। शब्द अपने आप में निरवयव होते हैं। इन शब्दों में प्रासंगिक और सार्थक सावयवता तब आती है, जब कवि इनकी व्यवस्था स्थपति के रूप में अपने काव्य-स्थापत्य के अन्तर्गत कहीं ईंट और कहीं छत, कहीं खिड़की और कहीं स्तम्भ के रूप में (रस, भाव, आयाम, बिंब, प्रतीक, चित्रण, वर्णन) कर देता है। काव्य-स्थापत्य में प्रयुक्त शब्द-मैटेरियल अपने पृथक् अस्तित्व को खोकर स्थापत्य में अंगांगित हो जाते हैं।

जीवन भी प्रपद्यवादी के लिए कच्चा माल है। कवित्व का उत्कर्षण-उत्खनन जीवन से होता है, इस बात की पुष्टि नलिन विलोचन शर्मा की इस स्थापना से भी होती है,

"हम मनुष्य और मनुष्यता में विश्वास रखते हैं। इसलिए कविता में भी हमारी आस्था बनी हुई है। हम मानते हैं कि मनुष्यता के दो-चार पर्यायों में एक कविता भी है।"[१]

दूसरे प्रसंग में नलिन विलोचन ने कहा कि वे प्रेरणा के क्षणों में लिखना नहीं, जीना पसन्द करते हैं। इस स्थापना में भी जीवन कविता के लिए कच्चे माल की खान के रूप में सिद्ध होता है। जिस प्रकार घट के लिए मिट्टी और कुम्भकार दोनों क्रमशः उपादान-कारण तथा निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार काव्य-रचना के लिए कोश उपादान कारण एवं कवि स्वयं निमित्त-कारण है। यह सूत्र यह भी संकेतित करता है कि काव्यकर्म एक तटस्थ-धर्मिता के साथ धारा-धर्मिता भी है।

प्रपद्यवाद का नवम सूत्र है : "प्रपद्यवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छंद का स्वयं निर्माता है।" वस्तुतः यह सूत्र सप्तम सूत्र की व्याख्या है। शब्द के निर्माता के दो अर्थ हैं। एक तो उन शब्दों से भी तात्पर्य है, जिनका निर्माण प्रपद्यवादियों ने किया है, जैसे धूलप (धूल + धूप), चित्रेतना (चित्र + चेतना) इत्यादि। किन्तु यहाँ यह सूत्रार्थ नहीं है, क्योंकि 'शब्द' के साथ 'प्रत्येक' विशेषण भी है। अतः इसका अर्थ होगा, प्रपद्यवादी अपनी काव्य-संगतियों के अनुकूल कोशादि से गृहीत शब्दों में अपेक्षित-अभीष्ट अर्थों को अध्युषित करता

है। शब्द के अर्थ का अनुगामी वर्ण-प्रतीक या ध्वनि-प्रतीक होता है। अतः इसी अर्थ में प्रपद्यवादी प्रत्येक शब्द का निर्माता होता है। इस प्रक्रिया को घट-पटादि-निर्माण से उपमित किया जा सकता है। कुम्भकार को कुम्भ का निर्माता कहा जाता है। कुम्भ मिट्टी से बनता है, किन्तु कुम्भकार मिट्टी का निर्माण नहीं करता। इसी अर्थ में कवि शब्द का निर्माता होता है, अर्थात् शब्द में सामान्यार्थ के अतिरिक्त विशेषार्थ को सन्निविष्ट करता है। अथवा यों कहा जा सकता है कि शब्द के कलश में कवि आत्मानुभूत अर्थ का आसव भरता है। इन्हीं अर्थों में कवि प्रत्येक शब्द का निर्माता होता है। कोशगत शब्द प्रसंग-रहित और विभक्तिहीन होने के कारण सार्थक होकर भी निरर्थक होते हैं। कवि ऐसे शब्दों में भाव तथा शिल्प से संस्कार भरता है। अतः कवि निर्माता की आख्या का अधिकारी प्रमाणित होता है।

इसी प्रकार कवि प्रत्येक छन्द का भी निर्माता होता है। ऊपर के सूत्रों से यह प्रमाणित है कि 'प्रपद्यवाद' मुक्तकाव्य और स्वच्छन्द काव्य दोनों ही है। अतः छन्दों की परंपरा से मुक्ति पाने पर कविता के लिए जिन छन्दों का स्वतंत्र-स्वच्छन्द प्रयोग किया जाएगा, वह कवि का अपना होगा। इस सूत्र की फक्किका में लिखा गया है,—"जैसे चित्रकार वर्ण-योजना का, मूर्तिकार प्रस्तर-खण्ड का।" यहाँ इस उदाहरण से कुम्भकार-दृष्टांत साम्य रखता है। मूर्तिकार प्रस्तर-खण्ड से मूर्ति बनाता है, किन्तु प्रस्तर-खण्ड नहीं बनाता। फिर भी इसे मूर्तिकार कहा जाता है।

प्रपद्यवाद का दशम सूत्र है: "प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसंधान है।" प्रपद्यवाद के अंतर्गत दृक्, दृष्टि, दृष्टिकोण, दर्शन, देखना, आँख इत्यादि का अनेक बार प्रयोग हुआ है। दृष्टिकोण को अँगरेजी में Angle of vision कहा जा सकता है। दृष्टि और Vision 'दृश्य' अथवा बिम्ब को संकेतित करते हैं। यह काव्य के वर्णनात्मक से अधिक चित्रात्मक रूप को समर्थित करता है।

इसके अलावा दृष्टि में दर्शन-तत्त्व भी है। कभी ऋषियों ने मंत्रों को देखा था, आज प्रपद्यवादी प्रपद्य को देखते हैं। प्रपद्य ही जीवन-सूत्र है इनके लिए।

'अनुसंधान' शब्द बौद्धिकता एवं प्रयोग की ओर लक्षित करता है। "प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसंधान है" अर्थात् जीने की प्रयोगात्मक प्रक्रियाओं का रिसर्च है। अथवा यों कहा जा सकता है कि जीने की नई प्रणालियों का अन्वेषण है।

प्रपद्यवाद का एकादश सूत्र है : "प्रपद्यवाद मानता है कि पद्य में उत्कृष्ट केंद्रण होता है और यही गद्य और पद्य में अंतर है।" यह सूत्र गद्य और पद्य के अंतर के परंपरीण सिद्धांत को नवीन और नियंत्रित शब्दावली में उपस्थित करता है।

विश्वसाहित्य में पहले पद्य-रचना हुई, गद्यावतरण बहुत बाद में हुआ है। संस्कृत-शब्दावली में गद्य और पद्य का अंतर नहीं रखा गया। गद्य को भी काव्य की संज्ञा दी गई। गद्य को 'वृत्तानुगंधी' कहने का तात्पर्य उसका काव्यरसान्वित होना है। पैट्रिक डिकिंसन ने गद्य और पद्य का अंतर शब्द-शक्ति-सीमाश्रय में इस प्रकार किया है,—

"मुझसे यह पूछा जाता है कि लोग कविता से घबराते क्यों हैं। जवाब में मैंने कहा है, यह इसलिए कि कविता शब्दों का उनकी महत्तम शक्ति के साथ उपयोग करती है। प्रकाशन-संस्थान, संभाषण-पत्र इत्यादि दैनंदिन व्यवहार में प्रयुक्त शब्द बहुत दुर्बल होते हैं। मैं इस बात को दूसरे प्रकार से कहना चाहूँगा। दो चषक लिए जाएँ। एक में जिन शराब (जलवत् पारदर्शी) अंगुलिभर डाली जाय और चषक के शेष भाग को पानी से पूरा भर दिया जाए, दैनंदिन व्यवहार के शब्द ये ही हैं। दूसरे चषक को केवल 'नीट जिन' से भर दिया जाए, ये ही कविता के शब्द हैं। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि कविता भयंकर मदहोशी पैदा करनेवाली चीज है। मेरा तात्पर्य भिन्न है। दोनों चषकों की शराब देखने में समान लगती है। बहुत से लोग जब समान दीखनेवाली इन दोनों चीजों का अनुभव अलग-अलग करते हैं तो कविता उनके लिए कड़वी सिद्ध होती है। पहले सामान्य दीखनेवाली और फिर मदहोशी, झंकृति और एक झटका पैदा करने के कारण कविता को लोग पसन्द नहीं करते।"[10]

कविता में शब्द अपनी महत्तम शक्ति रखता है, जबकि गद्य में यह सम्भव ही नहीं होता। कविता में संश्लेषण की प्रक्रिया होती है, जबकि गद्य में

विश्लेषण की। कविता में सामान्यत: चित्रण होता है, जबकि गद्य में सामान्यतः वर्णन। कविता में रचना-प्रक्रिया संघनन की और बोध-प्रक्रिया वाष्पीकरण की होती है; गद्य में रचना-प्रक्रिया वाष्पीकरण की और बोध-प्रक्रिया संघनन की होती है। गद्य की अपेक्षा कविता में रागात्मक संगतियों को अपेक्षित माना जाता है। गद्य में इसकी अनिवार्यता नहीं होती।

काव्य में शब्दों का उत्कृष्ट केन्द्रण होता है। गद्य-प्रयुक्त शब्द अपनी अर्थ-संपदा को अपने सामर्थ्य के साथ न तो विसृष्ट करता है, न ही अवबुद्ध। अत: उत्कृष्ट केंद्रण केवल कविता में होता है। केंद्रण का अर्थ केंद्रानुगामिता, संश्लेष, संक्षेप और संघनन है।

इसी 'उत्कृष्ट केंद्रण' के कारण काव्य इस 'गद्यकाल' में भी गद्य से पराजित नहीं हो पाता।

इस सूत्र की फक्किका में लिखा गया है, "Ditchen-Condensare;" पद्य के लयात्मक और सांगीतिक उपादानों के फलस्वरूप उसमें अतिरिक्त शब्दों के बिना ही रागात्मक घनत्व सन्निविष्ट हो जाता है।" यहाँ भी केंद्रण का तात्पर्य संघनन और संश्लेषण है।

प्रपद्यवाद का द्वादश और अन्तिम सूत्र है: "प्रपद्यवाद मानता है कि चीजों का एकमात्र सही नाम होता है।" इस सूत्र को इसकी फक्किका पुष्ट करती है, Mot-Juste : Flaubert." यहाँ Mot-Juste 'उचित-उपयुक्त शब्द' का फ्रेंच अनुवाद है।

रचनाकार अपनी अनुभूति-परिधि में आयत्त वस्तुओं को संगति-सम्मत नाम देता है। घटना-विशेष, प्रभावान्विति-विशेष अथवा अनुभूति-विशेष में वस्तुमात्र को रचनाकार एकमात्र नाम देता हैं। उस वस्तु-विशेष के अनेक पर्याय-नाम हो सकते हैं तथा एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, किन्तु रचनाकार वस्तु-विशेष को एक नाम और एक अर्थ में अपने कविता-संदर्भ में नियंत्रित कर देता है। अत: यह रचना-प्रक्रिया-सम्मत सिद्धांत है कि चीजों का एकमात्र सही नाम होता है।

जगत्, साहित्य और जीवन नामरूपात्मक हैं। जीवन और जगत् में रूप के नाम होते हैं; साहित्य में नाम के रूप होते हैं।

प्रपद्यवाद के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ रही हैं। यहाँ तक कि नकेन को भी गलत लिखा कहा गया। नलिन विलोचन शर्मा को नलिनी मोहन सान्याल, केसरी कुमार को केशरी कुमार, और नरेश को नरेश मेहता तक लिखा-जाना गया। उदाहरण के लिए "व्यंजना और नवीन कविता" नामक ग्रन्थ में उसके लेखक साहित्याचार्य पंडित राममूर्ति त्रिपाठी, एम्० ए० साहित्यरत्न ने लिखा है,

"नकेनवाद—यह आधुनिकतम वाद है, जिसका नाम नरेश मेहता, केशरी कुमार एवं नलिनी मोहन के नामों के आद्यक्षर से बना हुआ है।" यहाँ तीनों नाम गलत हैं।

"आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ" ग्रन्थ में डॉ० रामेश्वरलाल खंडेलवाल, एम्० ए०, पी-एच्० डी० ने छायावादोत्तर हिन्दी-कविता-प्रसंग में लिखा है,—

"ऐसे प्रयोगवादी कविता ने अब प्रपद्यवाद या नकेनवाद की स्थापना की है। नलिन विलोचन, केशरी कुमार तथा नरेश मेहता इन कविताओं में अग्रगण्य समझे जाते हैं।"[12]

यहाँ तीनों नाम गलत तो हैं ही, स्थापना भी गलत है। प्रपद्यवाद में यदि कवि-समूह होता तो इन तीन कवियों की अग्रगण्यता की बात समझ में आती। यहाँ तो तीन ही कवि हैं। न कम न ज्यादा।

नलिन विलोचन शर्मा और प्रपद्यवाद पर आलोचनाएँ नहीं लिखी गईं। कुछ संदर्भोल्लेख अवश्य मिलता है। जैसे —"हिन्दी-साहित्य कोश १ में प्रपद्य-वाद पर एक लघु टिप्पणी डॉ० रघुवंश ने लिखी है। 'साहित्य' त्रैमासिक, पटना के नलिन-स्मृति-अंक (अक्टूबर १९६१), (स्वर्गीय शिवपूजन सहाय-संपादित) में डॉ० अनन्त चौधरी ने "युगप्रवर्तक कवि नलिन जी और उनका प्रपद्यवाद" शीर्षक एक निबन्ध लिखा। डॉ० कुमार विमल ने अपनी पुस्तक "नयी कविता, नयी आलोचना और कला" में एकाधिक स्थलों कर प्रपद्यवाद और नलिन विलोचन शर्मा का प्रसंगोल्लेख किया है। 'कवि' के अगस्त १९५७ के अंक में "विशिष्ट कवि : नलिन विलोचन शर्मा" शीर्षक के अंतर्गत श्री त्रिलोचन शास्त्री ने आलोचनात्मक निबन्ध लिखा। "निराला और उनके बाद" निबन्ध में ('राका' ८-९, मुजफ्फरपुर से

प्रकाशित) श्री विष्णुचन्द्र शर्मा द्वारा नलिन विलोचन शर्मा का प्रसंगोल्लेख हुआ है। प्रो० केसरी कुमार ने 'नकेन के प्रपद्य' में लिखित 'पत्पशा में, 'पाटल' (७ अप्रिल १९५३ ई०) में प्रकाशित "प्रयोगवाद और उसके आलोचक" तथा अपने अन्य निबन्धों में नलिन विलोचन शर्मा एवं प्रपद्य का उल्लेख किया है। श्री राजीव सक्सेना ने "युद्धोत्तर काल के प्रमुख कवि : प्रो० नलिन विलोचन शर्मा" शीर्षक से 'भाषा' वसंतांक १९६२ में एक निबंध लिखा। 'अवंतिका' के काव्यालोचनांक में 'प्रपद्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रो० केसरी कुमार ने लिखा था।

हिन्दी-साहित्येतिहास-ग्रन्थों में प्रपद्य तथा नलिन विलोचन शर्मा का उल्लेख प्रायः नहीं है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने ग्रन्थ "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" में प्रपद्यवाद का उल्लेख सात पंक्तियों में पृ० ३३३ पर किया है। डॉ० त्रिभुवन सिंह ने अपने साहित्येतिहास-ग्रन्थ 'हिन्दी-साहित्य: एक परिचय' में नलिन विलोचन शर्मा का नामोल्लेख भर किया है। सुखदा पांडेय ने अपनी पुस्तक "साहित्य और इतिहास" के छायावाद और प्रयोगवाद, प्रयोगवाद और छायावादोत्तर नई कविता, शीर्षक निबन्धों के अन्तर्गत प्रपद्यवाद एवं प्रपद्यवाद के तीनों कवियों—नलिन विलोचन शर्मा, केसरी, एवं नरेश की काव्य-प्रवृत्ति का विस्तृत एवं तुलनात्मक उल्लेख किया है। शिवलोचन पांडेय एवं हृदयेश मिश्र के सम्मिलित लेखन में प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में प्रपद्य का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त प्रकाशित बीसियों साहित्येतिहास-ग्रन्थों में प्रपद्य और नलिन विलोचन शर्मा का नामोल्लेख नहीं है।

इस निबन्ध के उत्तरांश में नलिन विलोचन शर्मा की कविताओं का विशिष्ट परिचय उपस्थित है।

पद्मराग, नविश, विशन, नलिनजी, तथा नलिन विलोचन शर्मा के नाम लिखनेवाले और समझे जानेवाले रचनाकार नलिन विलोचस शर्मा के सम्बन्ध में एकबार मेरे यह लिखने पर कि "असफल कवि का आलोचक हो जाना सम्भव और स्वाभाविक माना जाता है; सफल आलोचक का असफल कवि-रूप (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) भी देखने को मिल जाता है, पर सफल आलोचक का सफल कवि-रूप कुछ कम मिलता है (आई० ए० रिचर्ड्स, नलिन विलोचन शर्मा।)'—मेरी इस स्थापना और आख्यान पर कुछ लोग आपत्तिपूर्वक चौंके थे, परन्तु संशोधन के साथ पुनर्विचार करने पर

भी मैं स्थापना में परिवर्तन नहीं कर सका। मैं यह स्वीकार करता रहा हूँ कि काव्यालोचन के लिए कवि होना अनिवार्य है; अथवा कवि नहीं तो कवि-हृदय होना जरूरी है। बाद में एक उद्धारण मिला,—"ऐसा प्रश्न उठाया गया है कि जो आलोचक स्वयं कवि भी नहीं, उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरों की कविताओं पर अपने विचारों को व्यक्त करने की आवश्यकता समझे।"

यानी समालोचना और रचनात्मक साहित्य-सर्जन का एकीकरण रीति-कालीन आचार्यत्व और कवित्व का आधुनिक समीकृत संस्करण है। फर्क सिर्फ यह तो हो सकता है कि पहले बड़ी-से-बड़ी कृति की आलोचना एकाध पंक्तियों में कर दी जाती थी, जिसे सूत्र-समीक्षा, सूक्ति-समीक्षा अथवा सुभाषित-समीक्षा नाम दिये जा सकते हैं। आज छोटी-से-छोटी रचना की बड़ी-से-बड़ी समीक्षा की जाती है, जिसे व्यावहारिक समीक्षा की संज्ञा दी जाती है।

नलिन विलोचन शर्मा ने रचना और आलोचना को इतना करीब कर दिया और दोनों को कुछ इतना परस्परापेक्षी अथवा अंगांगित कर दिया कि कभी-कभी यह कह पाना कठिन हो जाता है कि रचनाकार के लिए आलोचक होना ज्यादा जरूरी है या आलोचक के लिए रचनाकार होना? स्वयं नलिन विलोचन शर्मा दोनों ही स्तरों पर समान रूप से यशस्वी थे।

उन्होंने कविताएँ लिखी थीं। कम कविताएँ लिखकर कवि-रूप में ज्यादा नाम हासिल किया था; पर अजीब बात यह हुई कि काल की दृष्टि से पर्याप्त कहानियाँ पहले लिखकर कहानीकार-रूप में कम नाम पैदा किया। उनकी कहानियाँ कविता की तुलना में कम जानदार नहीं थीं। यहाँ तक कि कविता को वे कभी-कभी स्टंट से लेकर प्रयोग और व्यंग्य तक मानते गए, पर कहानियों को हमेशा तने हुए रस्से पर चलने की बाजीगरी ही कबूल करते रहे। इनकी कहानियों के संग्रह "विष के दाँत" और "सत्रह असंगृहीत-पूर्व छोटी कहानियाँ" का प्रकाशन पहले हुआ। काव्य-प्रकाशन बहुत बाद में हुआ।

नलिन विलोचन शर्मा की कुल प्रकाशित कविताएँ पैंसठ हैं, जिनमें केवल १६ कविताएँ नकेन के प्रपद्य में संगृहीत हैं। शेष पात्रिक साहित्य में प्रकाशित हैं। इनकी कविताएँ जिन पत्रों में प्रकाशित हुईं, उनके नाम हैं,-योगी, सर्वमान्य, प्रकाश, ज्योत्स्ना, कल्पना, कवि, पटना कॉलेज पत्रिका, स्पार्क, उत्तर बिहार, नवनीत, प्रतीक, हुंकार, पाटल, विविधा, आत्मा, कविताएँ, सुधा, गंगा, बालक,

जागरण, गुलदस्ता, अपरंपरा, निकष, नई धारा, तथा परिषद् पत्रिका। इन पत्रिकाओं में प्रकाशित ६५ कविताओं में १३ कविताएँ अँगरेजी से हिन्दी में (मुख्यत:) अथवा हिन्दी से अँगरेजी में अनुवाद हैं। अत: मूल प्रकाशित कविताओं की संख्या ५२ ही हैं। नलिन विलोचन शर्मा के अप्रकाशित साहित्य से कविताओं की संख्या ८६ मिली है। इन ८६ कविताओं में ३६ गीत हैं। जिनके प्रकाशन की अनुमति संभवत: नलिन जी कभी नहीं देते। शेष ५० कविताएँ ही नलिन विलोचन शर्मा के प्रपद्य की प्रतिनिधि कविताएँ मानी जाएँगी। अत: ५२ प्रकाशित एवं ५० अप्रकाशित कविताओं के ही कवि के रूप में नलिन विलोचन शर्मा हिन्दी-काव्येतिहास में कालान्तर महत्त्व के अधिकारी हैं।

'नकेन से प्रपद्य' की कविताओं में नलिन विलोचन शर्मा ने शब्द-प्रयोग में नवीनता का पथ अपनाया है। 'कलकत्ता पंजाब मेल' के लिए कलकत्-ताप्-अंजाबमेल 'और अंधकार' के लिए औरंधकार, 'अस्पताल' के लिए आस-पास ताल, धूल-धूप के लिए 'धूलप' और 'देख रही' के लिए,—

र दे

ख ही

जैसा प्रयोग 'नकेन के प्रपद्य' में उपलब्ध है। नलिन विलोचन शर्मा की 'धूलप' शीर्षक एक कविता की व्यावहारिक समीक्षा के माध्यम से प्रपद्यवाद के आयामों का अनुसंधान किया जा सकता है।

धूलप [नलिन विलोचन शर्मा]

धूल बहुत उड़ती है
शाम के अलावा भी,
गायों के बिना भी।

तीन दो बराबर छै
आँखें मेरे पास, गोकि
दो जोड़ एक बराबर तीन
आँखों, या फिर हजार आँखों
की चर्चा पुराणों में है।

मैं चश्मा लगाता हूँ,
और दो आँखें जेब में
रखता हूँ। अंतिम दोनों
धूमित हैं। तीखी धूप
होने पर आँखों पर के
चश्मे पर, लगा लेता हूँ उन्हें।

यह सब ग्रन्थ-ग्रन्थि नहीं है;
आप साधु नहीं, न मैं संत
कि ललकारता कि निबेरो यह पद।
फिर भी शिकायत हो सकती
है कि यह उलबाँसी है।
सो साफ-साफ यह कि
धूल बहुत उड़ती है
जिस शहर में मैं रहता हूँ।
और आजकल धूप
बहुत तीखी होने लगी है,
यहाँ तक कि मुझे धूपचश्मा
लगाना पड़ता है, यद्यपि
मैं लगाना पसन्द नहीं करता—
वे माफ करेंगे जो धूप-
चश्मा लगाए ही रहते हैं।
मुझे धूलप को
बिना चश्मा लगाए देखना
भाता है।
और ऐसी लाचारी।

इस 'धूलप' कविता के प्रथम संदर्भ में तीन शब्द प्रमुख हैं—धूल, शाम और गाय, जो धूलि, सायं तथा गो के अपभ्रंश के रूप में सार्थकतया प्रयुक्त हैं; क्योंकि कवि की दृष्टि में उन शब्दों की तत्सम-अर्थवत्ता तद्वत् शेष नहीं रही। क्रांतदर्शन तथा ऐतिह्य के अनुषंग को, जो कवि की विशेष मानसिक स्थिति में प्रसूत होकर संदर्भ का नूतन ध्वन्यर्थ उद्रिक्त करता है,—प्रयुक्त शब्दों के स्वीकृत अभिधार्थ से संयुक्त नहीं किया जाये तो,"—शाम के अलावा और गायों के विना भी धूल का उड़ना"—यही संदर्भ-अर्थ शेष रहेगा, जिसे काव्य-गुणापेत कहने में कोई आपत्ति नहीं होगी। अतः उपरिलिखित अनुषंग ही उस संदर्भ को ध्वनियुक्त और अर्थ-गर्भ बना पाने में समर्थ है। पूरे संदर्भ में 'धूल' शब्द केंद्रवत् स्थित है, जिसके विस्तार में प्रत्यग्विश्लेषण, निर्बंध चिंतन तथा विकल्प कल्पना का अनुगुंथन हुआ है।

उपर्युक्त तीनों शब्द संस्कृत की 'गोधूलि' की व्याख्या के तीन आयाम हैं। गोधूलि का एक प्रचलित अर्थ है संध्या। उस अर्थ के निष्पादन में 'गोधूलि' बहु-प्रकारतः व्युत्पन्न है। 'गो' के संस्कृत में पचीस से ज्यादा अर्थ हैं, उनमें सूर्य तथा किरण भी हैं। जब सूर्य की किरणें धूलिवत् हो जाएँ या सूर्य ही धूलिवत् हो जाए, वह काल-विशेष गोधूलि (संध्या) है। 'गो' का प्रचलित अर्थ गाय है। प्राचीनकाल में गुरुकुल-शिक्षण-पद्धति का प्रचलन था। शिष्य (अंतेवासी) गुरु की गायें लेकर आश्रम से प्रातःकाल ही निकल पड़ते थे। 'गो' [गाय (किरण)] के सर्ग (विसृष्टि, मोचन) के कारण प्रभात का एक प्रतिशब्द 'गोसर्ग' भी है—गवां सर्गो वनगमनाय मोचनं यद्वा गवां सूर्यकिरणानां सर्गो विसृष्टिः यस्मिन्—गोसर्गः। संध्या समय वे शिष्य उन गायों को लेकर आश्रम में लौटते थे। हजार-हजार गायों के आगमन के समय उनके खुरों से धूल उड़ती थी। यह समय संध्या का होता था। अतः उसका एक प्रमुख पर्याय गोधूलि है। अर्थात्—गवां क्षुरोत्थिता धूलिर्यत्र काले—गोधूलिः।

समासतः धूल के उड़ने के कारण गोपद-गोचारण तथा इसका सम्यक् समय सायं माना जाता है। किन्तु आज अंतेवासी शिष्यगण सहस्रलक्ष गायों को लेकर जंगलों से संध्या समय आश्रम को नहीं लौटते; फिर भी धूलिकण उड़ते हैं और यहाँ तक कि संध्या भी हो जाती है। स्पष्टतः गोचारण-पद्धति नष्ट होने से संध्या कभी होनी ही नहीं चाहिए; न ही धूल उड़नी चाहिए। किन्तु संध्या भी होती है और संध्या समय के अतिरिक्त भी धूल उड़ती है। आश्चर्य है।

इस आश्चर्य में अज्ञान नहीं, जिसका आधेय आश्चर्य है, बल्कि हास्य-मिश्रित व्यंग्य अनुस्यूत है। धूल उड़ रही है, इस वास्तव की प्रतिक्रिया के आसंग में कवि ऐतिह्य के उन अधिगत शब्द-शास्त्र तथा सांस्कृतिक दृष्टि का प्रत्यक् परिवेश उपस्थित कर देता है। 'यहीं प्रपद्यवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है' की सूत्र-सिद्धि हो जाती है।

दूसरे सन्दर्भ में 'आँख' शब्द प्रमुख है। पूरे इस सन्दर्भ में आँख को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा गया है। तीन द्वित्व मिलकर छह आँखें और फिर ये छहों आँखें कवि के पास हैं। दो जोड़ एक अर्थात् तीन आँखों की चर्चा पुराणों में है। त्रिनेत्र शिव तथा सहस्राक्ष इन्द्र हैं। शिव, जो तृतीय नेत्र से मदन को भस्मीभूत कर देते हैं और इन्द्र जो सहस्र आँखों से श्री-सौन्दर्य तथा समृद्धि के द्रष्टा हैं। सहस्रनेत्र इन्द्र वैदिक आर्यों के सर्वशक्ति-सम्पन्न देव हैं, जो सोमपान करते हैं और परम सौन्दर्य रखनेवाले हैं। ऋग्वेद का चतुर्थांश ऐंद्र मन्त्र है। एक ओर सहस्रनयन इन्द्र वृष्टि द्वारा पृथ्वी को सशस्य करनेवाले हैं—इरां तृणातीति इन्द्रः तो दूसरी ओर उन्द्वर्कवह्नित्रिनेत्र महादेव अग्नि-प्रलय उपस्थित करनेवाले। कवि इन अनेक आँखों को, इन छह आँखों से विभिन्न दृष्टिकोणों से देखता है। कवि चश्मा लगाता है। उसकी दृष्टि वर्त्तमान से अतीत तक प्रलम्ब खिंचती चली जाती है।

तृतीय सन्दर्भ में कवि इस वर्ण-दृष्टिकोण को ग्रन्थिजात नहीं मानता अर्थात् उसकी मानसिक स्थिति विकुण्ठ है। कवि एक दो नहीं छह-छह आँखें रखने वाला है, अतः जन्मांध सूरदास की तरह भगवान् को निस्तार करने के लिए ललकारता नहीं, न ही उसकी उक्ति में कबीर की कोई उलटवाँसी है। उसका वर्णन दृष्टिकूट और उलटवाँसी की ग्रन्थियों से मुक्त है, क्योंकि वह न साधु है न सन्त और न उसका पाठक ही इस आख्या का अधिकारी है।

चतुर्थ सन्दर्भ में 'ग्रन्थि' से ऊपर उठा हुआ कवि अपने शहर की धूल पर आ अटकता है। धूल बहुत उड़ती है, धूप बहुत तीखी होने लगी है और विशेषकर उस शहर में, जहाँ वह रहता है।

फिर पंचम और अन्तिम संदर्भ में वह धूलि-मिश्रित धूप को नग्न नेत्रों से देखना पसन्द करता है। धूपचश्मा लगाए रहनेवाले व्यक्ति से उसे चिढ़ है, जबकि उसे भी धूपचश्मा लगाने की लाचारी है।

गोपद से उत्थित धूलिकण को कृष्ण बड़े प्यार से देखा करते थे। ऋषियों को अपने शिष्यों तथा गायों के प्रत्यागमन की सूचना मिलती थी। संध्या अनुभूतिगर्भा बनकर उपस्थित है। उषा में सौंदर्य तो होता है, जिसका भूयिष्ठ वर्णन वैदिक ऋचाओं में उपलब्ध है, किन्तु वह अनुभूति-शून्य होती है। गोधूलि सर्वविध अनुभूतियों से सम्पूर्ण होती है।

सम्पूर्ण कविता में धूल, धूप तथा आँख ये तीन शब्द प्रमुख हैं। इन तीनों शब्द के लिए कवि ने 'धूलप' शब्द की सृष्टि की है। धूल दलित या शोषित की प्रतीक रही है। धूप की शोषकता स्वयं-सिद्ध है और आँख में 'लप'। कवि को प्रथम दोनों का संघर्ष अच्छा लगता है। किन्तु तीनों की गुत्थमगुत्थी का परिणाम 'धूलप' रूप है। जो अक्षर-घटाव क्रमविक्रमानुसार व्युत्पन्न है--लेकिन वह इस संघर्ष में कारण-विशेष लप, आँख से सक्रिय भाग नहा लेता, सम्भवतः अपने अभिजात-तंत्र के कारण। यही उसकी लाचारी हो सकती है। चकाचौंध में नहा पड़े कि चश्मा लगाना लाचारी है और वास्तव का रंग दूसरा नहीं दिखने लग जाय, इसलिए चश्मा (आदर्श-आडम्बर) लगाना नहीं चाहता।

धूल और धूप और लप परस्पर इस प्रकार आत्मगुंफित हैं मानो रज और प्रकाश की उज्ज्वल द्रवणशीलता दोनों मिलकर एकाकार हो गए हैं। और फिर रज-श्वेतद्रवप्रकाश—'धूलप' का अक्षि-गर्भ में आधान --पूरी कविता के त्रित्व को एकीकृत कर देता है। आँख—अक्षि आकृतितः 'धूलप' का आधानधर्मा वा आधान-गर्भा बनने में समर्थ नहीं है क्या! फिर आँख में प्रजननता प्रतीकित क्यों होती रही!

फिर अन्त में मार्क्स-फ्रायड, अभिजात-तंत्र-मनीषा ऐसे समंजसमान हैं, जैसे अनुपमेय ही पाये जाते रहे हैं। इसीलिए इसकी काव्यात्मक अन्विति अनुभूत आसंगों में उपचित होगी।

धूलप शब्द का निर्माण मरीचिका या यों कहें कि उस दृश्यमान वस्तु के लिए किया गया है, जिसे हम तपती धूप में गर्मी के समय लपलपाते हुए पाते हैं।

---

1. नकेन के प्रपद्य : पस्पशा : चौथा सूत्र, पृ० ११५.
2. उपरिवत् : तीसरा सूत्र : पृ० ११५.
3. उपरिवत् : चौथा सूत्र : पृ० ११५
4. तारसप्तक : संपादक : अज्ञेय : भूमिका , पृ० ८-९ (१९४३ ई०)

5. नकेन के प्रपद्य : पश्पशा :पृ० ११३ .

6. उपरिवत् : पृ० ११४.

7. उपरिवत् : प्रपद्य-द्वादश-सूत्री : पृ० (क)

8. दृष्टिकोण (पटना) : संपादकीय : "मुक्तकाव्य और स्वच्छन्द काव्य (नलिन विलोचन शर्मा) फरवरी १९४८ ई० : वर्ष १. अंक १.

9. कविता (कविता-पत्रिका) जुलाई १९४५ ई० संपादकीय (कविता का प्रकाशन)

10. Patric Dickinson, Broadcast talk, the Listener, 23 July 1953.

11. व्यंजना और नवीन कविता —लेखक : साहित्याचार्य पंडित राममूर्ति त्रिपाठी, एम्० ए०, साहित्यरत्न, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी १९५७ ई० पृ० परिशिष्ट २२.

12. 'आधुनिक कविता की प्रवृत्तियाँ, संपादक—मोहनलाल पंत [डॉ० रामेश्वर लाल खंडेलवाल-लिखित 'हिन्दी उत्तरार्ध' शीर्षक निबन्ध] सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ गुजरात, संवत् २०१७.

अत्म रूप्ता की

रचना-संदर्भ और आभार

१. संस्कृति—श्री बालेश्वर ने 'अर्थ' (लखनऊ) की ओर से विघटनशील युग-परिवेश पर विचार करते हुए 'संस्कृति' पर निबंध लिखने का आग्रह किया था। निबंध लिख जाने पर एकाध गोष्ठियों में इसका पाठ हुआ। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की एक विशेष परिचर्चा में सम्बद्ध विषय पर भाषण करने का अवसर प्राप्त हुआ। और अन्त में इन्हीं सर्जना-सरणियों से निबन्ध का प्रस्तुत स्वरूप निर्मित हो सका।

२. साहित्य—'भारत-सेवक' के सहकारी श्री विजय अमरेश के आग्रह और प्रो० मधुसूदन मिश्र (जर्मनी) के साथ विमर्श के परिणाम-स्वरूप इस निबंध की रचना हुई, जो श्री मुरलीधर पांडेय के संपादन में 'भारत-सेवक' (पटना) के ९ अक्तूबर १९६२ ई० के अंक में प्रकाशित हुआ। बाद में 'साहित्य में पदार्थ-विज्ञान' विषय पर शोधकार्य करने के प्रक्रम में इस निबन्ध को और विस्तृत किया गया। फिर शब्दाध्ययन-ग्रन्थ 'वागर्थ' (१९६८ ई०) में इसका प्रकाशन हुआ।

३. अर्थ—भर्तृहरि एवं राजशेखर के अध्ययन और सम्बद्ध विषय पर शोध-कार्य के परिणाम-स्वरूप इसकी रचना हुई।

४. शब्द—कविता में शब्द-तत्त्व की प्रधानता का पक्ष-समर्थन, सम्बद्ध विषय पर शोधकार्य और श्री केसरी कुमार की अध्यक्षता में सम्पन्न श्री अनुरंजन प्रसाद सिंह की कविता-पुस्तक 'पाषाण पंक्तियाँ' के ग्रन्थावतरण-समारोह में 'काव्य में शब्द-तत्त्व' विषय पर भाषण के आमन्त्रण की प्रेरणा पर यह निबन्ध लिखा गया।

५. वेदनावाद—विश्वविद्यालय में महादेवी के काव्य के अध्यापन और बौद्ध-दर्शन एवं अस्तित्ववाद के अध्ययन के अनुक्रम में यह निबन्ध लिखा गया, जो श्री शिवेन्द्र नारायण से सम्पादित 'ज्योत्स्ना' (पटना) के सितम्बर १९६५ ई० के अंक में प्रकाशित हुआ।

६. **शोकगीति**—प्रो॰ तेजनारायण प्रसाद सिंह, प्रो॰ राम बुझावन सिंह एवं डॉ॰ शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव के सम्मिलित सम्पादन में प्रकाशित ग्रन्थ 'निराला : जीवन और साहित्य' (१९६७ ई॰) में संकलन के लिए डॉ॰ शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव के आग्रह पर 'शोकगीति और सरोजस्मृति' निबन्ध लिखा गया, जो उक्त ग्रन्थ में सम्मिलित किया गया। बाद में केवल 'शोकगीति' पर कुछ विस्तार से काम हुआ, जो श्री उदयराज सिंह की इच्छा और आज्ञा के अनुकूल उनसे सम्पादित 'नई धारा' (अप्रिल १९६५ ई॰), पटना में छपा। फिर श्री गोपीकृष्ण गोपेश (इलाहाबाद) के पत्र (नईधारा, मई १९६५ ई॰ में प्रकाशित) और श्री जितेन्द्र सिंह के परामर्श पर इस लेख को और समृद्ध किया गया।

७. **अश्लीलता**—'नर-नारी' (पटना) के सम्पादक श्री जगदीश नारायण और पत्रिका के संचालक श्री वीरेन्द्र वात्स्यायन के पुनः पुनः आदेश पर यह निबन्ध लिखा गया और 'नर-नारी' के फरवरी १९६६ ई॰ के अंक में 'अश्लीलता के आयाम' शीर्षक से छपा।

८. **नवगीत**—हिन्दी-साहित्य-संघ, मीठापुर, पटना के पदाधिकारियों (श्री लक्ष्मेश्वर दयाल, श्री गोपीवल्लभ और श्री अरुण कुमार सिन्हा) के आग्रह पर यह निबन्ध तैयार किया गया और उक्त संघ के तत्त्वावधान में आयोजित नवगीत-संगोष्ठी (१९६६ ई॰) में पढ़ा गया। बाद में संघ द्वारा प्रकाशित 'रश्मि' के नवगीत-अङ्क (१९६८ ई॰) में श्री गोपीवल्लभ, श्री मैथिलीवल्लभ परिमल और श्री सत्यनारायण के सम्पादन में यह निबन्ध संकलित-प्रकाशित हुआ।

९. **पगद्य**—लघुपत्रिका 'इतरेतर' (नवम्बर १९६९ ई॰ पटना) के सम्पादन-क्रम में डॉ॰ श्रीनिवास की पगद्य-कविता के प्रकाशन के अनुक्रम में सम्पादकीय टिप्पणी के अन्तर्गत पगद्य पर अनेक भ्रांतियों के निराकरण के लिए एक टिप्पणी लिखी। बाद में अनेक पत्रों की प्रेरणा पर निबन्ध को विस्तार दिया गया।

१०. **रचनालोचन**—अपनी पहली कविता-पुस्तक 'रेत की उर्वर शिलाएँ' (१९६५ ई॰) के लिए एक लम्बी भूमिका लिखी, जो श्री शिवमंगल के परामर्श पर पुस्तक में सम्मिलित नहीं की जा सकी। पुस्तक-प्रकाशन के अनन्तर अपने प्रति उत्पन्न एकाधिक रचनापत्ति की प्रेरणा पर यह निबंध विस्तृत किया गया।

११. भाषा—श्री कृष्णानन्द दत्तक्योलियार के आग्रह पर 'भाषा' पर आकाशवाणी के पटना-केन्द्र से एक वार्ता (२८-१-७१) प्रसारित की गई। फिर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा से विचार-विनिमय और उनके ग्रन्थाध्ययन की प्रेरणा पर यह निबन्ध विस्तृत किया गया।

१२. विभाषा—सम्बद्ध विषय पर आकाशवाणी, पटना से वार्ता-प्रसारण (२१-१०-७० ई०) और विश्वविद्यालय में अध्यापन-अनुभव के आधार पर यह निबन्ध तैयार किया गया।

१३. अपभाषा—'विचित्रा' के सम्पादक श्री गिरिधारी लाल शर्मा 'गर्ग' के आदेश पर यह निबन्ध तैयार किया गया।

१४ कोश—महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा के महाग्रन्थ 'वाङ्मयार्णव' की पुस्तक-समीक्षा के क्रम में 'समीक्षा' पटना के सम्पादक डॉ० गोपाल राय की इच्छा से 'संस्कृत-कोश-परम्परा और वाङ्मयार्णव, निबंध तैयार किया गया। पत्रिका में निबन्ध का उत्तरांश छपा। बाद में श्री ज्ञान साहा के आदेश पर मैंने 'संस्कृत कोशकोशेतिहासान्तर्गते वाङ्मयार्णव शीर्षक से और विस्तारपूर्वक संस्कृत में निबंध तैयार किया, जो 'पाटलश्रीः', पटना के जनवरी, अप्रिल और जुलाई ६८ के अङ्कों में क्रमशः मुद्रित हुआ। फिर कुछ विस्तृत शोध और विवर्धन के साथ 'संस्कृत-कोश की परम्परा' शीर्षक से हिन्दी में निबन्ध तैयार किया गया, जो डॉ० कुमार विमल, श्री हवलदार त्रिपाठी सहृदय और श्री श्रीरंजनसूरिदेव से सम्पादित 'परिषद् पत्रिका', पटना (जनवरी १९७१ ई०) में छपा। यहाँ उस निबन्ध का पूर्वांश प्रकाशित है।

१५. काम—'काम' नामक अपने ग्रन्थ की भूमिका के लिए लिखित निबन्ध को 'नर-नारी' के संचालक-सम्पादक के आग्रह-आदेश पर कुछ और संवर्धित किया गया, जो उक्त पत्रिका के जनवरी, ७० अङ्क में प्रकाशित हुआ।

१६. गो—गो पर विशेषाध्ययन की प्रेरणा दामोदर श्रीपाद सातवलेकर की रचनाओं से मिली। विषय पर दस वर्षों के विशेषाध्ययन के परिणाम-स्वरूप एक 'गो-ग्रन्थ' तैयार हुआ। उन्हीं दिनों 'दृष्टिकोण' के सम्पादकों (पण्डित शिवचन्द्र शर्मा, शिवमंगल और श्री धीरेन्द्र झा) के आग्रह-आदेश पर इस ग्रन्थ के कुछ अंश दिए गए, जो दृष्टिकोण के तीन अङ्कों में छपे। यहाँ उसका प्रथमांश ('दृष्टिकोण'—फरवरी १९६६ ई० के अङ्क में प्रकाशित) संगृहीत है।

१७. ज्योति – दीपावली के अवसर पर 'उत्तर बिहार' (पटना) के विशेषांक -प्रकाशन के समय पत्रिका के संपादक श्री रामरीझन रसूलपूरी के आदेश पर यह निबंध तैयार किया गया, जो उक्त पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

१८. पाठक-वर्ग— भारती-भवन के संचालक श्री मोहित मोहन बोस के संयोजन में प्रवर्तित परिज्ञान-परिषद्, पटना की संगोष्ठी में आचार्य देवेंद्र नाथ शर्मा की अध्यक्षता में पठित निबंध। बाद में श्री रामरक्षा सिंह के संपादन में प्रकाशित 'प्रकाशन-जगत्' में प्रकाशित।

१९. स्नातक--श्रीमोहित मोहन बोस और श्री रामरक्षा सिंह के आग्रह पर लिखित और 'किशोर-भारती' (श्री रामरक्षा सिंह से संपादित) पटना के सितम्बर १९६७ के अंक में प्रकाशित।

२०. शहीद— श्री शंकर दयाल सिंह एम० पी० के सञ्चालन-सम्पादन और स्वर्गीय ब्रजकिशोर नारायण के प्रधान-सम्पादकत्व में प्रकाशित 'पारिजात' की शहीद स्मारिका में संग्रह के लिए स्वर्गीय ब्रजकिशोर नारायण के विषय-निर्देश और आग्रह पर लिखित-प्रकाशित।

२१. गारुड़वाद— गारुड़वादी (Ventri loquist) श्री आर्थर कुक के साहचर्य और उनकी प्रेरणा पर तैयार निबन्ध।

२२. नारी —'नरनारी' के संचालक-सम्पादक के विशेषाग्रह पर तैयार निबन्ध, जो उक्त पत्रिका में क्रमशः छपा। फिर 'नारी की निरुक्ति' नाम से ग्रन्थ-प्रणयन। प्रस्तुत निबन्ध 'नर-नारी' के अक्टूबर '६५ नवम्बर '६५ दिसम्बर '६५ जनवरी'६६ मार्च '६६ और मई'६८ के अंकों में प्रकाशित मेरे निबन्धों का अंश-संचय है। इसके साथ 'नारी-जगत्' (पटना) के जनवरी '६६ अंक में प्रकाशित निबन्ध 'नारी के विविध रूप' भी अंशतः सम्मिलित है। यह निबन्ध पत्रिका की सम्पादिका श्रीमती सरला रोहतगी और पत्रिका-परामर्श दाता श्री नरेश एवं स्वर्गीय ब्रजशंकर वर्मा के परामर्श-आग्रह पर लिखा गया था।

२३. गवाक्ष – शब्द-व्युत्पत्ति-स्तम्भ के लेखक के रूप में किशोर भारती' के मई '६७ अंक में प्रकाशित।

२४. स्वास्थ्य—'किशोर-भारती' के जुलाई '६७ अंक में प्रकाशित।

२५. अनुवाद—श्री मोहित सोहम बोस द्वारा संचालित परिज्ञान-परिषद् (भारती-भवन, पटना द्वारा प्रवर्तित) की 'हिंदी-अनुवाद-समस्या-संगोष्ठी (१० मई '६७ ई०) में साहित्य-वाचस्पति डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु

की अध्यक्षता में पठित निबन्ध। बाद में 'प्रकाशन-जगत्' (१५ जुलाई '६७) के अनुवाद विशेषांक में प्रकाशित।

२६. भू—कॉपरनिकस और गैलीलियो की करुण-कथा पढ़ने की प्रेरणा पर लिखित।

२७. दिक्काल—आइंस्टीन, नालींकर, भवभूति एवं टी० एस० एलिएट की काल-विषयक रचनाओं की प्रेरणा पर लिखित।

२८. कुंठा—आधुनिक युग-संदर्भ की कविता के संदर्भ में अपनी पंक्ति 'रचना प्रक्रिया के दो तटबन्ध : कुण्ठा और वैकुण्ठ' पर उत्पन्न आक्षेप तथा प्राप्त पत्रों की प्रेरणा पर लिखित निबन्ध।

२९. पुस्तक—'किशोर-भारती' के सम्पादकों के आग्रह पर लिखित निबन्ध, जिसका प्रकाशन पहले 'किशोर-भारती' के जून '६७ अंक में और फिर श्री सत्येन्द्र द्वारा सम्पादित 'पुस्तक-समाचार' (जून '६९) में हुआ। विश्वविद्यालय में पाठालोचन के अध्यापन से उक्त विषय और सम्वर्धित हुआ है।

३०. प्रपद्य—'नलिन विलोचन शर्मा : साहित्य और सन्दर्भ' नामक ग्रन्थ-लेखन; 'इतरेतर' २ (नवम्बर '६९) पटना, के एक विशेष सम्पादकीय-लेखन तथा श्री शिवमंगल-सम्पादित 'अधिकरण' पटना (जनवरी-अप्रिल '६५) में 'धूलप : शब्दाध्ययन' निबन्ध प्रकाशन के संयोग के रूप में यह निबन्ध तैयार किया गया।

[मैं इन निबन्धों के सर्जन-सन्दर्भ के प्रेरणा-पुरुष—सभी उपरिलिखित सज्जनों-विद्वानों के प्रति कृतज्ञ एवं श्रद्धावनत हूँ, जिनके आग्रह-आदेश पर ये निबन्ध लिखे-छपे।